वर्ष ४५] * * * * [अङ्क ११

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

संस्करण १,६८,०००

विषय-सूची

कल्याण, सौर मार्गशीर्ष, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, नवम्बर १९७१

चित्र-सूची

Free of charge] जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार । सम्पादक—चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

'सुआ पढ़ावत गनिका तारी'

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
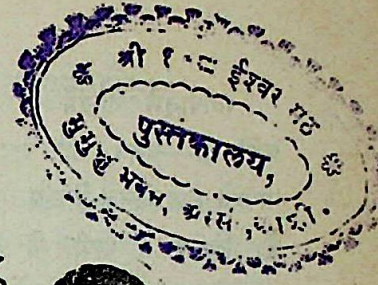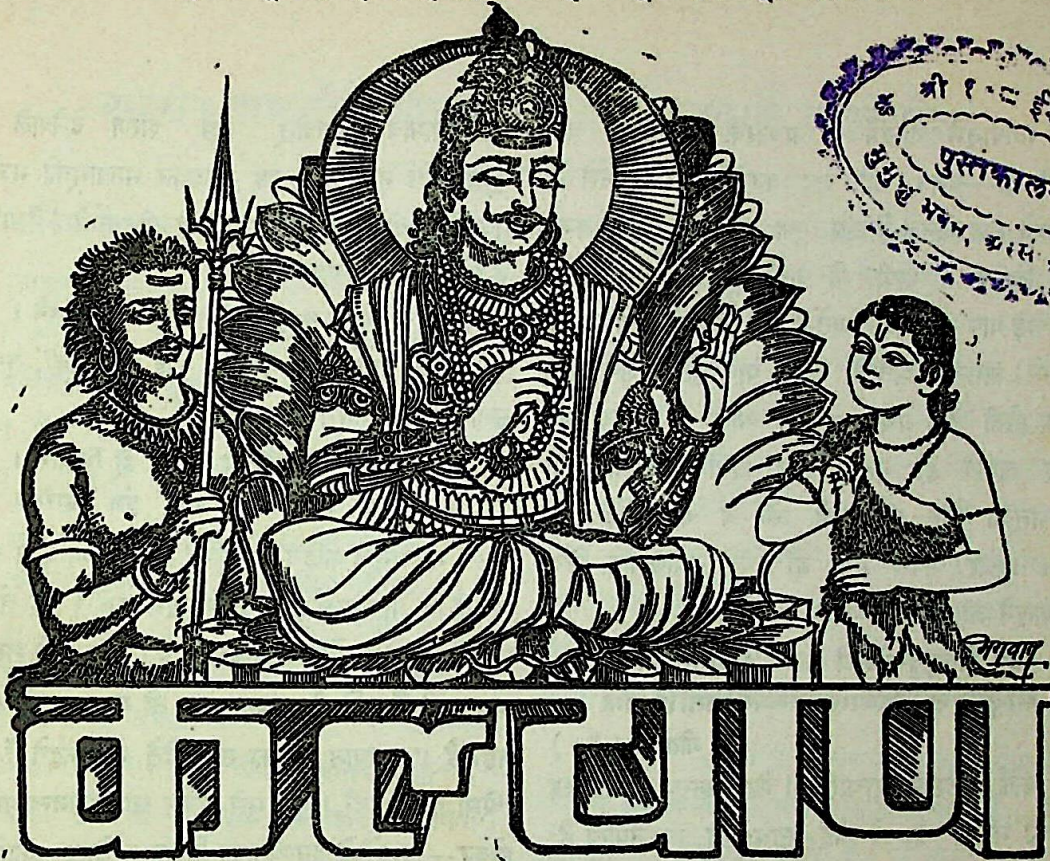
अधश्चोर्ध्वं हरिश्चाग्रे देहेन्द्रियमनोमुखे । इत्येवं संस्मरन् प्राणान् यस्त्यजेत्स हरिर्भवेत् ॥
(अग्निपुराण)

वर्ष ४५ } गोरखपुर, सौर मार्गशीर्ष, श्रीकृष्ण-संवत् ५१९७, नवम्बर १९७१ { संख्या ११
पूर्ण संख्या ५४०

भगवान्की दयालुता

दीनन दुख हरन देव, संतन सुखकारी ।
अजामील गीध ब्याध, इन में कहौ कौन साध,
पंछीहू पद पढ़ात गनिका-सी तारी ॥
ध्रुव के सिर छत्र देत, प्रह्लाद को उबार लेत,
भक्त हेत बाँध्यो सेत, कनकपुरी जारी ॥
तँदुल देत रीझ जात, साग-पात सौं अघात,
गिनत नाहिं जूठे फल, खट्टे-मीठे-खारी ॥
गज कौं जब ग्राह ग्रस्यौ, दुस्सासन चीर खस्यौ,
सभा बीच कृष्ण कृष्ण, द्रौपदी पुकारी ॥
इतने हरि आय गए, बसनन आरूढ़ भए,
सूरदास द्वारे ठाढ़ौ आँधरौ भिखारी ॥

—श्रीसूरदासजी

भगवान्‌ने गीतामें दो प्रकारके पापियोंकी बात कही है—प्रथम, जो पाप करनेमें गौरव मानते हैं, पापको गुण मानते हैं और गुण मानकर उसको करते हैं; द्वितीय वे पापी, जो पापसे छूटना चाहते हैं, पर बड़े-बड़े पाप उनसे बन जाते हैं। वे अपनेको पापोंसे मुक्त होनेमें असमर्थ पाते हैं, किंतु पाप होनेसे उन्हें बड़ी पीड़ा होती है। प्रथम श्रेणीके व्यक्ति तो भगवान्‌की ओर ताकते ही नहीं, परंतु द्वितीय श्रेणीके पापी भगवान्‌की ओर ताकते हैं और वे चाहते हैं कि किस प्रकार पापसे मुक्त हों। ऐसे व्यक्तियोंके लिये भगवान्‌ने आश्वासन दिया है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥

(गीता ९। ३०)

'कोई अतिशय दुराचारी भी मेरा अनन्य भक्त होकर मुझको भजता है, तो वह साधु ही माननेयोग्य है; क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है।'

आप पापोंसे मुक्त होना चाहते हैं, पर पापोंसे आपका छुटकारा नहीं हो पाता तो निराश मत होइये। अपने मनमें यह सोच लीजिये कि हमारे समान पापी तो कोई है ही नहीं, जिससे सारा जगत् घृणा करता है, जिसका संसारमें कोई नहीं है, जिसका सबने परित्याग कर दिया है; पर भगवान् एक ऐसे हैं, जो हमारे-जैसे घृणितको, पापीको, दलितको, पतितको पावन करनेके लिये दूकान खोले बैठे हैं और घोषणा कर रहे हैं—'आ जाओ। मेरी शरणमें आ जाओ। कोई भी पापी आ जाय, मैं उसे मुक्त करनेको तैयार हूँ। बस, शर्त एक ही है, मुझको ही एकमात्र शरण देनेवाला मानो। मेरे सिवा कोई शरण देनेवाला है ही नहीं, यह निश्चय करके मेरी शरणमें आ जाओ। 'अनन्यभाक्' बनो अर्थात् शरण्यताका भाग—हिस्सा किसी भी दूसरेको न दो।'

एकमात्र भगवान् मुझे शरण देनेवाले हैं, दूसरा कोई नहीं है—यह समझकर भगवान्‌को भजो। पुकारो—'हे नाथ! हे प्रभो! हे दीनबन्धो! मैं पतित हूँ और तुम पतितपावन हो।'

हौं पतित, तुम पतितपावन, दोउ बानक बने।

'हे नाथ! मेरे समान कोई पापी नहीं, तुम्हारे समान पापोंसे तारनेवाला कोई नहीं'—

तू दयालु, दीन हौं; तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंज हारी॥

भगवान्‌से कहिये—'नाथ! मेरे लिये यह कौन बड़ी बात है कि पाप करूँ और दुःख सहन करूँ? यह तो न जाने मैं कितने जन्मोंसे करता आ रहा हूँ। पर तुम्हारी शरणमें आकर भी मैं यदि ऐसा बना रहा तो यह तुम्हारे योग्य नहीं है।' भगवान् इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—"ऐसा होगा नहीं। तुम मुझे जिस क्षण 'अनन्यभाक्' होकर—दूसरोंको शरण्यताका हिस्सा न देकर पुकारोगे, उसी क्षण 'साधु' मान लिये जाओगे, मैं घोषणा कर दे रहा हूँ—साधुरेव स मन्तव्यः।"

आप यह शङ्का मत कीजिये कि भगवान्‌ने अभी-अभी मुझे 'सुदुराचारः'—अतिशय दुराचारी—कहा था और अब वे कहते हैं कि 'साधु मान लिये जाओगे?' जगत्‌में हम देखते हैं कि अन्धकारमें बैठा हुआ व्यक्ति जब प्रकाशमें आ जाता है, तब अन्धकार उसके साथ नहीं आता—अन्धकार उसे घेरे हुए नहीं रहता। ऐसे ही जब आप यह ठीक-ठीक निश्चय करके कि 'भगवान् ही मेरे शरण्य हैं', भगवान्‌की शरणमें आ गये—आनेकी इच्छा कर ली, उसी समय आप 'धर्मात्मा' बन गये।

भगवान्‌के इस आश्वासनपर विश्वास कीजिये और उन्हें अपना एकमात्र शरण्य मानकर निर्भय एवं निश्चिन्त हो जाइये।

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृतोपदेश

[पुराने सत्सङ्गसे]

भगवान्के नाम-रूपकी स्मृतिमें लग जाइये ।

भगवान्के नाम-रूपकी स्मृति सब साधनोंमें श्रेष्ठ है । भगवान्ने अर्जुनसे कहा—'जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्तसे स्थित हुआ सदा ही निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीको मैं सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ'—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

(गीता ८ । १४)

भगवान्के नाम-रूपकी स्मृति रहनी चाहिये, फिर दुर्गुण-दुराचारकी परवा मत कीजिये; ये अपने-आप स्वाहा हो जायँगे । मुख्य चीज भगवान्की स्मृति है । वह होती रही तो सब कुछ अपने-आप हो जायगा ।

भगवान्के नाम-रूपकी स्मृतिके प्रति विशेष प्रयत्न रखना चाहिये । नाम-रूपकी स्मृतिसे समस्त अवगुण भाग जाते हैं और सब गुण आ जाते हैं । जिस प्रकार साबुनका स्पर्श होते ही कपड़ोंका मैल साफ होने लगता है, वैसे ही नाम-रूपकी स्मृति आरम्भ होते ही अन्तःकरण निर्मल होने लगता है ।

मैं स्वयं इस नतीजेपर पहुँचा हूँ कि भगवान्के स्मरणमें जितना लाभ है, उतना किसीमें नहीं है । आपलोगोंको भी भगवान्के स्मरणमें लग जाना चाहिये । यह हमारी आजमाइश की हुई चीज है ।

(२)

अपनी प्रकृति और स्वभावपर विजय प्राप्त कीजिये ।

साधनोंमें बाधा पहुँचानेवाले तत्त्व हैं—गुण, स्वभाव और काल । कालके सम्बन्धमें श्रीतुलसीदासजीने आश्वासन दिया है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास ।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास ॥

(मानस ७ । १०३ (क))

'कलियुगके समान दूसरा कोई युग नहीं है । दूसरे युगोंमें तप-यज्ञ आदि कठोर साधनोंसे जो वस्तु प्राप्त होती है, कलियुगमें वही वस्तु भगवान् श्रीरामके विमल यशके गान करनेमात्रसे सुलभ हो जाती है ।' इस समय कलियुगका बोलबाला है । कलियुगकी आसुरी सेनाएँ सर्वत्र फैली हुई हैं; परंतु जो भगवान्का आश्रय लेकर कलियुगकी सेनासे लड़नेको तैयार हो जाता है, उसके लिये इनपर विजय प्राप्त करना असम्भव नहीं है ।

गुण और स्वभावको जीतना मनुष्यका कर्तव्य है । भगवान् इस विषयमें मनुष्यकी सहायता करते हैं; किंतु सहायता वे उन्हींकी करते हैं, जो उनके बनाये हुए नियमोंका पालन करते हैं । जो भगवान्के नियमोंका पालन नहीं करते—उनका उल्लङ्घन करते हैं, भगवान् उनके लिये कड़े शब्दोंमें चेतावनी देते हैं—

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ॥

(गीता ७ । १५)

'मायाद्वारा हरे हुए ज्ञानवाले और आसुरी स्वभावको धारण किये हुए तथा मनुष्योंमें नीच एवं दूषित कर्म करनेवाले मूढ़लोग मुझे नहीं भजते ।'

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥

(गीता १६ । २०)

'हे अर्जुन ! मुझको न प्राप्त होकर वे मूढ़ पुरुष जन्म-जन्ममें आसुरी-योनिको प्राप्त होते हुए आसुरी-योनिसे भी अति नीच गतिको प्राप्त होते हैं, अर्थात् घोर नरकोंमें जाते हैं ।'

अतएव भगवान्‌का आश्रय लेकर अपनी प्रकृति एवं स्वभावपर विजय प्राप्त करनी चाहिये।

(३)

महात्माओंके आज्ञा-पालनमें तत्परता कैसे हो ?

महात्माओंके आज्ञा-पालनमें तत्परता नहीं होती, इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे अंदर अपनी बुद्धिका अभिमान है और श्रद्धाकी कमी है। बुद्धिका अभिमान महात्मामें गुणबुद्धि करनेसे तथा भगवत्कृपासे मिट सकता है। उत्तम श्रेणीकी गुणबुद्धि होनेसे महात्मामें गुण-ही-गुण दिखायी देते हैं। दोषोंकी कल्पना भी उनमें नहीं होती। निम्न श्रेणीकी गुणबुद्धि होनेपर भी महात्मामें कोई दोष दीखनेपर उसे स्वीकार नहीं किया जाता और उनके कहे अनुसार आचरणकी चेष्टा रहती है। वास्तविक गुणबुद्धिका स्वरूप तो यह है कि अपनी तथा दूसरोंकी बात युक्तिसङ्गत दिखायी पड़े, तब भी न माने और महात्मा जैसे कहें, वैसे करे।

दूसरे, तत्परता श्रद्धामें होती है। हमारा जिसके प्रति जैसा विश्वास होता है, उसकी कही बातको करनेके लिये हम वैसा ही प्रयत्न करते हैं। महात्माकी बातपर विश्वास होनेसे उसको करनेका तीव्र प्रयत्न होगा और प्रयत्न तीव्र हुआ कि मन-इन्द्रियका संयम स्वाभाविक हो जाता है एवं अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। अतएव सबसे पहले महात्माओंके प्रति श्रद्धा करनी चाहिये।

(४)

अपने कर्त्तव्यकर्ममें बराबर लगे रहिये।

अपना भला चाहनेवाले व्यक्तिको खूब खटना चाहिये—अपनेको सदा व्यस्त रखना चाहिये। हम देखते हैं कि जो लोग थोड़ा भजन करने लगते हैं, वे काम करना छोड़ देते हैं। यह उनकी उन्नतिमें सहायक न होकर उनके पतनमें हेतु बन जाता है। दिन-रात भजन होता नहीं और काम करना उन्होंने स्वेच्छासे छोड़ दिया; अतएव समय आलस्य और प्रमादमें व्यतीत होने लगता है और पतन हो जाता है। गीताके तीसरे अध्यायमें भगवान्‌ने इस विषयको विस्तारसे समझाया है। अर्जुनको कर्तव्यकर्मोंमें प्रवृत्त करनेके उद्देश्यसे भगवान्‌ने सर्वप्रथम कर्मोंके सर्वथा त्यागको असम्भव बतलाया है—

> न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
> कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
> (गीता ३। ५)

'निस्संदेह कोई भी मनुष्य किसी भी कालमें क्षणमात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता; क्योंकि सारा मनुष्यसमुदाय प्रकृतिजनित गुणोंद्वारा परवश हुआ कर्म करनेके लिये बाध्य किया जाता है।'

इसके पश्चात् भगवान् सृष्टिचक्रकी स्थिति तथा उसका यज्ञपर निर्भर होना बतलाकर और परमात्माको यज्ञमें प्रतिष्ठित कहकर उस यज्ञरूप स्वधर्मके पालनकी अवश्यकर्तव्यता सिद्ध करते हैं और उस सृष्टिचक्रके अनुकूल न चलनेवालेकी अर्थात् अपना कर्तव्य-पालन न करनेवाले व्यक्तिकी निन्दा करते हैं—

> एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
> अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥
> (गीता ३। १६)

'पार्थ! जो पुरुष इस लोकमें इस प्रकार परम्परासे चलाये गये सृष्टिचक्रके अनुकूल नहीं बरतता, अर्थात् अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता, वह इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंमें रमण करनेवाला पापायु पुरुष व्यर्थ ही जीता है।'

भगवान् आगे बतलाते हैं कि जबतक मनुष्यको परम श्रेयरूप परमात्माकी प्राप्ति न हो जाय, तबतक उसे अपने स्वधर्मका पालन करते रहना चाहिये, अर्थात् अपने वर्णाश्रमके अनुसार विहित कर्मोंका अनुष्ठान निःस्वार्थभावसे करना उसके लिये अवश्यकर्तव्य है। इतना ही नहीं, परमात्माको प्राप्त हुए पुरुषके लिये किसी प्रकारका कर्तव्य न रहनेपर भी उसके मन-इन्द्रियोंद्वारा लोकसंग्रहके लिये प्रारब्धानुसार कर्म होते हैं। अतएव सभीको अनासक्तभावसे कर्तव्यकर्म करने चाहिये—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(गीता ३। १९)

'इसलिये तू निरन्तर आसक्तिसे रहित होकर सदा कर्तव्यकर्मको भलीभाँति करता रह; क्योंकि आसक्तिसे रहित होकर कर्म करता हुआ मनुष्य परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'

आसक्तिरहित होकर कर्म करनेवाला मनुष्य निश्चितरूपसे परमात्माको प्राप्त हो जाता है, इस बातको पुष्ट करनेके लिये भगवान् कई प्रमाण और उपस्थित करते हैं। पहले वे जनक आदि महापुरुषोंका उल्लेख करते हैं, जिन्होंने आसक्तिरहित कर्मोंके द्वारा ही परम सिद्धिकी प्राप्ति की थी—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि॥
(गीता ३। २०)

'जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्तिरहित कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे। इसलिये तथा लोकसंग्रहको देखते हुए भी तुझे कर्म करना ही उचित है।'

इसके पश्चात् भगवान् अपना उदाहरण देकर वर्णाश्रमके अनुसार विहित कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यता बतलाते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥
(गीता ३। २२-२४)

'अर्जुन! मुझे इन तीनों लोकोंमें न तो कुछ कर्तव्य है और न कोई भी प्राप्त करनेयोग्य वस्तु अप्राप्त है, तो भी मैं कर्ममें ही बरतता हूँ; क्योंकि हे पार्थ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ तो बड़ी हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं संकरताका करनेवाला होऊँ तथा इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ।'

—इस प्रकार कर्मोंको सावधानीके साथ न करने और उनका त्याग करनेके भीषण परिणामका अपने उदाहरणसे वर्णन करके, लोक-संग्रहकी दृष्टिसे सबके लिये विहित कर्मोंकी अवश्यकर्तव्यताका प्रतिपादन करनेके अनन्तर भगवान् लोकसंग्रहकी दृष्टिसे ज्ञानीको भी कर्म करनेके लिये प्रेरणा देते हैं—

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
(गीता ३। २५)

'हे भारत! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जिस प्रकार कर्म करते हैं, आसक्तिरहित विद्वान् भी लोकसंग्रह करना चाहता हुआ उसी प्रकार कर्म करे।'

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि किसीके लिये भी कर्तव्यकर्मका स्वरूपतः त्याग भगवान्‌को अभिप्रेत नहीं है। वे उन ज्ञानी-महात्माओंके लिये भी, जिनमें अहंता, ममता, आसक्ति और कामनाका सर्वथा अभाव हो गया है, लोक-संग्रहके लिये कर्मासक्त मनुष्योंकी भाँति ही शास्त्रविहित कर्मोंका विधिपूर्वक साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान करना कर्तव्य बतलाते हैं। अतएव हमलोगोंको चाहिये कि भगवान्‌के आदेशानुसार हम अपने कर्तव्य-कर्ममें बराबर लगे रहें; भजन-सत्सङ्गके नामपर उसका त्याग न करें। हमलोगोंको कार्यकी कुशलता अज्ञानीकी लेनी चाहिये। स्वार्थत्याग, कार्य-कुशलता और अकर्मण्यताका अभाव—इन तीनपर विशेष ध्यान देना चाहिये। परमात्माकी प्राप्तिमें भी विलम्ब होनेका प्रधान कारण है—प्रमाद, अर्थात् साधनमें लापरवाही। उसका परित्याग करके साधन करनेपर सफलता निश्चित है।

परमार्थकी पगडंडियाँ

[नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार) के अमृत-वचन]

प्रार्थना और भगवन्नाममें बड़ा बल है। इसको केवल कल्पना मत मानो। ज्ञानीलोग कहते हैं, ज्ञान प्राप्त होनेपर—ब्रह्मका स्वरूप जान लेनेपर मुक्ति हो जाती है और यह बात है भी सर्वथा सत्य; परंतु इसके प्रमाण क्या हैं ? जिस कर्म-बन्धनमें सब लोग फँसे हैं, जिसके कारण बिना इच्छाके बाध्य होकर कर्मोंका फल भोगना पड़ता है, उस कर्म-बन्धनकी सारी ग्रन्थियाँ ब्रह्मको जानते ही कैसे छूट जाती हैं ? ज्ञानमात्रसे बन्धनोंका नाश होना यदि सम्भव हो तो फिर नाममात्रसे पापोंका नाश क्यों सम्भव नहीं ? भगवान्का नियम ऐसा ही है। दोनों ही बातें सत्य हैं। अतएव तुम मनमें विश्वास करके भगवन्नामकी शरण ग्रहण करोगे तो तुम्हारे संकटोंका नाश होना कोई बड़ी बात नहीं है, यद्यपि क्षणभङ्गुर सांसारिक पदार्थोंकी प्राप्तिके लिये तथा विनाशी संसारके संकटोंके विनाशके लिये अविनाशी सनातन परमात्माकी प्राप्ति करानेवाले, अविनाशी भगवन्नामका प्रयोग करना बुद्धिमत्ता नहीं है।

× × × ×

सांसारिक क्षणभङ्गुर पदार्थोंके पानेकी इच्छा तथा प्रारब्धवश अपने कल्याणके लिये परमात्माके विधानसे प्राप्त हुए दुःखोंके विनाशकी कामना—दोनों ही अज्ञानके कारण होती हैं। जो वस्तु नाश होनेवाली है, प्रतिक्षण मृत्युको प्राप्त हो रही है, उस सतत मरणशील वस्तुकी चाह कैसी ? इसी प्रकार संकटोंके मूलभूत विषयोंद्वारा संकटोंसे छूटकर सुखी होनेकी वासना कैसी ? मलसे मल कभी नहीं धुलता। इसलिये सांसारिक लाभ-हानिको प्रारब्धपर छोड़कर निश्चिन्त रहना चाहिये। आवश्यकतानुसार विहित कर्म करने अवश्य चाहिये, परंतु फलासक्तिको त्यागकर भगवत्सेवा ही कर्म करनेमें उद्देश्य होना चाहिये। कर्म-सम्पादन होते ही तुम अपने फर्जको अदा कर चुके, फिर चाहे उसका फल कुछ भी हो। उदाहरणके लिये भूकम्प-पीड़ित एक आदमीको तुमने मकान बना दिया, फिर दूसरे ही दिन पुनः भूकम्प आया और उसका मकान गिर पड़ा। इससे जैसे तुम्हारा कर्म व्यर्थ नहीं गया, उसी प्रकार तुम भगवान्की सेवा समझकर जो कार्य करते हो, उसके द्वारा तुम्हारी पूजा स्वीकार हो गयी। तुम्हें उसके फलसे क्या मतलब। तुमने तो पूजाके लिये कर्म किया था, फलके लिये नहीं। और फलमें मनुष्यका अधिकार भी नहीं है। ऐसी अवस्थामें न तो फलकी इच्छा करनी चाहिये और न कर्म या कर्म-फलमें ही आसक्ति होनी चाहिये। विचारपूर्वक जो विषय-मोहको छोड़कर और इस प्रकार फलासक्तिको त्यागकर विहित कर्म करता है, वही यथार्थ बुद्धिमान् है और वही परम सुख और शान्तिको पाता है। तुम बुद्धिमान् हो, जगत्का क्षणभङ्गुर स्वरूप जान रहे हो। जिनको तुम सुखी मानते हो, वे भी अंदर-अंदर जलते हैं; उनकी जलनका कारण अवश्य ही दूसरा है, यह भी तुम जानते हो। अतएव तुम्हें विषयासक्तिका त्याग करनेकी चेष्टा करते रहना चाहिये और प्रेमपूर्वक भगवान्की प्रसन्नताके लिये भगवन्नामका जप निष्काम भावसे करना चाहिये।

'गुरु-गोविन्द'की बात यथार्थ है। मैं तो इन दोनोंमेंसे कोई भी नहीं हूँ। 'गुरु' होनेकी तो मैं अपनेमें किसी प्रकारकी योग्यता नहीं समझता और 'गोविन्द' मैं हूँ नहीं। हाँ, सब कुछ गोविन्द है—'वासुदेवः सर्वमिति'—भगवान्के इस वचनके अनुसार सभी भगवत्स्वरूप हैं। इस नाते सभी सभीको नमस्कार कर सकते हैं—आप भी और मैं भी।

× × × ×

भगवान् श्रीकृष्णकी चरणधूलिकी अभिलाषा रखना ही भगवत्कृपा है। भगवान् कृपा करके जिसको अपनी धूलि देते हैं, वही अपनी चरणधूलिसे जगत्को पवित्र करनेकी योग्यता प्राप्त करता है। दूसरी बात यह है कि आज हम किसी मनुष्यमें गुण देखकर उसपर श्रद्धा करते हैं, आगे चलकर उससे कोई दोष बन जाता है, अथवा हमारी दृष्टिमें परिवर्तन हो जानेके कारण उसमें दोष दीखने लगता है, तो उसमें अश्रद्धा हो जाती है, जो होनी भी चाहिये—और वैसी अवस्थामें अपने पहले कर्मपर पश्चात्ताप होता है। इसलिये भगवान्पर श्रद्धा करना और उनकी चरण-धूलिकी आकाङ्क्षा करना ही सुरक्षित पथ है। तीसरे—भक्त, संत या ज्ञानी इसीलिये बड़ा है कि वह भगवान्का भक्त है, भगवान्का प्रेमी है या भगवद्भक्तिका ज्ञाता है। महान् परमात्माके सम्बन्धसे ही उसमें महात्मापन आया है। इस दृष्टिसे भी भगवान् सर्वोपरि वन्दनीय हैं।

× × × ×

देशके अधिकांश मासिक और साप्ताहिक पत्र धार्मिक लेखोंको नहीं छापना चाहते, यह सत्य है। युग-प्रभाव और वर्तमान शिक्षा-प्रणालीका यह अवश्यम्भावी परिणाम है। हमें अपने कर्तव्यमार्गपर धीरता और दृढ़ताके साथ अग्रसर होते रहना चाहिये। श्रीभगवान्पर विश्वास रखकर कर्तव्य-पथपर दृढ़ रहा जाय तो भगवत्कृपासे हमारा कल्याण निश्चित है और ऐसी अवस्थामें जिस देश, समाज और समयमें हम रहते हैं, उसपर भी उसका किसी-न-किसी अंशमें असर होना अनिवार्य है। कारण, हमारी क्रियाओं-का स्वाभाविक ही प्रकृतिके साथ सम्बन्ध है। प्रकृतिके जिस वातावरणमें जो कुछ क्रिया होती है, शक्तिके तारतम्यके अनुसार उसका प्रभाव उसपर होता ही है और इस प्रकार वह सबको प्रभावित करती है।

× × × ×

आपने अपने हृदयकी बात मुझे लिखी और उसमें आपका कोई दोष मेरे सामने आ गया, इससे मेरे मनमें आपके प्रति कोई घृणा नहीं हुई। आपने विश्वास करके अपना दिल खोला, यह तो मेरे साथ आपने प्रेमका ही व्यवहार किया है। रही दोषकी बात, सो इस जमानेमें ऐसे आदमी विरले ही हैं, जिनसे जवानीकी उन्मत्ततामें दोष न घटा हो। दोषको स्वीकार कर लेना और आगे दोष न करनेका निश्चय ही मनुष्यके लिये कर्तव्य है। भूलसे, प्रमादसे, इन्द्रियपरवशतासे, बदमाशीसे या परिस्थितिमें पड़कर जो पाप भूतकालमें हो गये, उनके लिये सिवा पश्चात्तापके और उपाय ही क्या है। पूर्वके पापोंके लिये हृदयमें पश्चात्ताप हो और भविष्यमें पाप न करनेका दृढ़ निश्चय हो और उस निश्चयपर डटे रहनेके लिये पर्याप्त साधनोंका संग्रह हो—बस, यही मनुष्य कर सकता है तथा यही करना चाहिये। सत्सङ्ग, सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय और भगवन्नाम-जप—इसमें प्रधान सहायक हैं। यों तो बड़े-से-बड़ा फल मोक्ष भी इन्हीं साधनोंसे मिलता है। इसलिये इनको श्रद्धापूर्वक करना चाहिये।

ऐसे पापोंके होनेमें प्रधान कारण तो विषयासक्ति है। गौण कारण कर्महीन जीवन, कुसङ्ग, आलस्य और स्त्रियोंसे एकान्तमें मिलना है। जिसको कामोंसे फुरसत ही नहीं मिलती, जो कभी कुसङ्ग नहीं करता, जो आलस्यवश कर्मका परित्याग नहीं करता और जो स्त्रियोंके साथ मिलने-जुलनेमें दृढ़ताके साथ परहेज रखता है—वह मनुष्य विषयासक्त होनेपर भी क्रियात्मक पापसे बच जाता है। भागवतमें कहा है—

'तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्।' (५।५।२), 'स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।' (११।१४।२९)

'स्त्रियोंके सङ्गियोंका सङ्ग भी नरकका द्वार है। स्त्रियोंके और स्त्री-सङ्गियोंके सङ्गको आत्मवान्

पुरुष दूरसे त्याग दे।' जो बात पुरुषोंके लिये है, वही बात स्त्रियोंके लिये भी है। स्त्रियोंको भी पुरुषोंका सङ्ग नहीं करना चाहिये।

× × × ×

भगवान्‌का नाम-जप बढ़ाना चाहिये तथा दैवी सम्पदाके गुण अधिक-से-अधिक बढ़ सकें, इसका भी प्रयत्न सदा-सर्वदा करते रहना चाहिये। पाप न होने देनेका चित्तमें निश्चय रखना चाहिये। निश्चय पापोंसे बचानेमें बहुत सहायक होता है।

× × × ×

आपको रासमण्डलीके एक श्रीकृष्णस्वरूप बहुत ही सुन्दर जान पड़ते हैं और उनकी बोलनि, हँसनि, मुसकान, चाल आदि मनको बरबस हर लेती हैं, आपका यह भाव श्रीकृष्ण-सम्बन्धी होनेके कारण बहुत उत्तम है। किसी-किसी स्वरूपमें कुछ विशेषता होती है और ऐसा भी सुना है कि किसी-किसीमें लीलाके समय भगवान्‌का आवेश भी होता है। जैसे मूर्तिमें भगवान् मानकर मूर्ति-पूजा होती है और उससे भगवान्‌की प्रसन्नता प्राप्त होकर भगवान्‌के साक्षात् दर्शन हो सकते हैं, उसी प्रकार किसी भी सजीव प्राणीकी भगवद्भावसे उपासना की जा सकती है; परंतु इसमें आगे चलकर कई तरहके दोष उत्पन्न होने, अश्रद्धा होने, मार्गच्युत होनेकी आशङ्का रहती है। इसलिये सदा ऐसा करना ठीक नहीं मालूम होता। लीलाके समय अवश्य ही उन्हें भगवत्स्वरूप ही समझना चाहिये। ऐसा समझनेसे आनन्द तो विशेष आता ही है, साथ ही बहुत-से दोषोंसे मनुष्य बच जाता है और आनन्दमें सात्त्विकता आ जाती है। जिस आनन्दमें इन्द्रियके साथ विषयका सम्बन्ध है, अर्थात् जो आनन्द इन्द्रिय-तृप्तिजन्य या विषयजन्य है, वह आनन्द सात्त्विक नहीं है और उसका परिणाम बहुत बुरा है; एवं जहाँ भगवद्भाव नहीं है, वहाँ इन्द्रियजनित आनन्द ही होता है। इसलिये रास-लीला और रामलीला, चाहे वे कैसी भी हों, कभी देखनेका अवसर मिले तो किसी भी नाट्यकलाकी ओर न देखकर केवल भगवद्भावसे ही उन्हें देखना चाहिये। इससे देखनेवालेकी कोई हानि नहीं होती और विशेष लाभ पहुँचता है। परंतु अन्य समय रासलीलाके स्वरूपको भगवान् समझकर उनके प्रति भगवान्‌का-सा व्यवहार करना युक्तिसंगत नहीं जँचता। मेरी समझसे लीलाके बालकका ध्यान और चिन्तन भी नहीं करना चाहिये। इसमें भी हानिकी गुंजाइश है। चित्र और प्रतिमाके ध्यानमें वह बात नहीं है; क्योंकि उनमें प्रत्यक्ष कोई परिवर्तन नहीं होता। परंतु बालकके तो सौन्दर्य, स्वास्थ्य, स्वभाव, आचरण, व्यवहार और स्थिति आदिमें न जाने कितने प्रकारके परिवर्तन हो सकते हैं। उसमें सदा एक-सा भाव बनाये रखना या बना रहना असम्भव-सा है। हाँ, एक बात इस प्रसङ्गमें लिखनी आवश्यक है कि बहुत-से लोग इस प्रकारका व्यवहार करने जाकर आचरणभ्रष्ट हो जाते हैं। अतः इसमें विशेष सावधानीकी आवश्यकता है। रासकी सभी मण्डलियोंके सभी श्रीकृष्ण-स्वरूपोंमें भक्ति और आकर्षण रासके समय होना चाहिये। नहीं तो एक छिपा दोष मनमें रह सकता है—वह यह कि बालकके सौन्दर्य आदिपर चित्त आकर्षित होता है, श्रीकृष्णपर नहीं। इस दोषको ढूँढ़ना चाहिये। यदि पता लगे तो उसे तुरंत दूर करना चाहिये। बहुत स्थानोंमें मनुष्य भ्रमवश भगवान्‌के नामपर विषयोंकी उपासना कर बैठता है।

× × × ×

श्रीकृष्णके आकर्षणकी बात कौन कह सकता है। जिनके भावसे रासलीला देखनेमें श्रीकृष्णका स्वरूप धारण करनेवाले बालकके भाव हमारे मनको हर लेते हैं—जिस बालकका रूप मायिक, क्षणभङ्गुर और कृत्रिम है, तब उस अखिल सौन्दर्यकी निधि रसराज श्रीकृष्णके सौन्दर्यकी तो महिमा कैसे कही जा

सकती है। समस्त ब्रह्माण्डोंमें जितना सौन्दर्य और माधुर्य जहाँ-जहाँ बिखरा है, वह सब एक स्थानपर एक रूपमें संग्रह कर लिया जाय—अखिल विश्वकी समस्त रूपराशिकी एक जीवित प्रतिमा बना ली जाय तो वह जीवित रूप-प्रतिमा सौन्दर्यमय श्रीकृष्णके रूप-समुद्रका एक अंश भी नहीं हो सकती। उस कायाकी इसे छाया कहनेमें भी दोष होता है। जब भ्रमसे भासनेवाली छायामें इतना आकर्षण होता है, तब वास्तविक कायामें कितना आकर्षण होगा—उसकी कल्पना ही कौन कर सकता है। समस्त ब्रह्माण्डोंके महान् मुनियोंके मनोंको भी आकर्षित करनेवाले श्रीकृष्णके रूप-समुद्रके एक कणकी भी झाँकी हो जाय तो मनुष्य उसके हाथ सदा-सर्वदाके लिये बिक जाता है; फिर उसे किसी भी वस्तुकी प्राप्तिकी आवश्यकता नहीं रहती, वह उसके पीछे मतवाला हो जाता है। इस स्थूल विश्वमें जो रूप है, उससे अधिक सुन्दर सूक्ष्म जगत्में है और कारण जगत्के रूप तो जगत्के रूपोंकी अवधि—सीमा हैं। कामदेवका रूप कारण-जगत्का ही है। भगवान् श्रीकृष्णका रूप तो इन तीनोंसे परे है।

× × × ×

आपके पूर्वज भगवद्भक्त थे। इसीसे आपको भी भगवान्की ओर अनुराग हुआ है। परंतु शान्ति तो इतनी जल्दी नहीं मिलती। जीवके अनन्त जन्मोंके कुसंस्कार कुछ महीनेमें कैसे दूर होंगे! वास्तवमें शान्तिकी शर्तके साथ भजन करना ही सच्चा भजन नहीं है। यदि कोई विद्यार्थी यह शर्त रखे कि "मैं तो तभी पढ़ूँगा, जब मुझे परीक्षामें उत्तीर्ण होनेकी 'गारन्टी' दे दी जाय", तो उसकी यह शर्त उचित नहीं मानी जा सकती। उसे तो यह चाहिये कि वह पूरे मनोयोगके साथ पढ़े। यदि वह परिश्रम करेगा तो उत्तीर्ण भी हो ही जायगा। इसी प्रकार भजनके साथ कोई भी शर्त रहनेसे सच्चा भजन नहीं हो सकता और न उससे कभी शान्ति ही मिल सकती है। भजन तो इसलिये होना चाहिये कि वही जीवनका सबसे प्रधान कर्तव्य है, वही उसके जीवनका लक्ष्य है। जो भजन करता है और उसके सिवा कोई काम नहीं करता, उसका जीवन सफल है। इसके विपरीत जो भजन नहीं करता, किंतु संसारमें बहुत बड़ा आदमी समझा जाता है, उसका जीवन व्यर्थ है। आपने कई प्रकारके साधन किये, किंतु शान्ति न मिलनेके कारण आप उन्हें छोड़ते गये—वह उचित नहीं हुआ। आपने बार-बार साधन बदले, इसीलिये शान्ति नहीं मिली। यदि आप कोई-सा भी एक साधन करते रहते तो आपको ऐसा अनुभव नहीं होता। वास्तवमें साधनका छोड़ना तो किसी भी निमित्तसे उचित नहीं है। जिस साधनको पकड़ें, सारी आयु उसीमें खपा दें। इस जन्ममें नहीं तो दूसरे जन्ममें वह आपको पूर्ण पदपर प्रतिष्ठित करा ही देगा।

× × × ×

आपने कोई सद्गुरु बतानेके लिये लिखा तो किसीके बतानेसे तो सद्गुरुका मिलना प्रायः असम्भव है। जिस प्रकार साधकको साधन करते-करते ही भगवान्के दर्शन हो सकते हैं, कोई दूसरा व्यक्ति भगवान्से मिला नहीं सकता, उसी प्रकार सद्गुरुकी प्राप्ति भी साधनके बलसे ही होती है। भगवान् साधककी सभी आवश्यकताओंकी पूर्ति करते हैं। जब वे देखते हैं कि अब ठीक अवसर आ गया है, तब वे स्वतः ही उसे गुरुदेवसे मिला देते हैं। किसी भी एक महापुरुषसे सबको लाभ पहुँचे—यह नियम नहीं है। जिस प्रकार पिता-पुत्र एवं पति-पत्नीका सम्बन्ध पूर्वजन्मके संस्कारोंके अनुसार निश्चित है, उसी प्रकार गुरु-शिष्यका सम्बन्ध भी प्रायः संस्कारोंके अनुसार ही होता है। बहुत सम्भव है कि जिन महापुरुषोंमें मेरी श्रद्धा है, उनसे आपको कोई लाभ न हो। इसलिये जबतक स्वयं ही कोई महापुरुष न मिलें, जिनकी ओर स्वतः ही आपका गुरुभाव हो जाय, तबतक आप 'शिव-मन्त्र'का जप करते रहें तथा भगवान् शिवको ही अपना गुरु मानें। वे स्वयं गुरुदेवसे आपको मिला देंगे।

× × × ×

आपने अस्वस्थताके कारण जप कम होनेकी बात लिखी, सो ठीक है । नियमसे एक स्थानपर बैठकर जप करनेमें तो अस्वस्थता बाधक हो सकती है; किंतु यदि कोई ऐसा नियम न रखा जाय तो हर समय, हर स्थितिमें मन-ही-मन जप किया ही जा सकता है । मेरे विचारसे तो आपको प्रत्येक क्षण भगवत्स्मरणके साथ ही बिताना चाहिये । इसमें न कोई स्वास्थ्यका प्रतिबन्ध हो सकता है और न समयाभावकी ही आपत्ति हो सकती है । आप किसी भी स्थितिमें हों और कुछ भी करते हों, मन-ही-मन जप करते रहिये । मैंने ६४ माला नियमसे जप करनेको कहा था; उसमें नियम केवल इतना ही था कि मालाद्वारा जप गिन लिया जाय । एकान्त स्थानपर बैठनेकी बात उसमें नहीं थी । अब भी यदि आप उतनी माला तो गिनकर और शेष समय बिना गिने मानसिक जप करें तो विशेष लाभ होगा ।

जप करते समय मन भी भगवान्का स्मरण ही करे, यह तो बहुत ही अच्छी बात है; परंतु यदि ऐसा न हो, वह इधर-उधर भटके, तो भी घबराना नहीं चाहिये । उसे भगवान्में लगानेका प्रयत्न करते रहिये । धीरे-धीरे वह अपनी चञ्चलता छोड़ देगा । यह काम जल्दी होनेवाला नहीं है, कुछ अधिक समयतक अभ्यासकी आवश्यकता है ।

× × × ×

कुछ समय निश्चित और एकान्त स्थानमें भी भजन करना चाहिये । उस समय जपके साथ श्रीभगवान्के रूपका भी ध्यान कीजिये । ऐसा करनेसे ही ध्यानका अभ्यास होगा । यदि बिल्कुल प्रयत्न नहीं किया जायगा तो केवल जप करते-करते ध्यान हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता; क्योंकि इसके लिये जप जितना बढ़ाना चाहिये, उतना इस जीवनमें बढ़ेगा या नहीं, यह नहीं कहा जा सकता ।

आपकी ६४ मालाएँ ४ घंटेमें पूरी हो जाती हैं, यह असम्भव तो नहीं; परंतु ऐसा तभी हो सकता है, जबकि या तो जपका अधिक अभ्यास हो या मन्त्र अधूरा बोला जाय । आप यह ध्यान रखियेगा कि मन्त्र अधूरा न बोला जाय ।

नाम जपते-जपते आँसू बहने लगें, यह प्रेम अवश्य है; परंतु नामका मीठा लगना यह भी प्रेम ही है । अभी मीठा लगता है तो सम्भव है कि भविष्यमें आँसू भी आने लगें । इसके लिये निरन्तर जप करनेकी आवश्यकता है ।

× × × ×

विचित्र अनुभव सदा नहीं हुआ करते । परंतु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि अब चित्त साधनसे गिर गया है या आगे कोई और अनुभव नहीं होंगे । अनुभवोंकी ओर न देखकर भगवत्स्मरणकी निरन्तरताका ही प्रयत्न करना चाहिये ।

ध्यानका अभ्यास अवश्य करना चाहिये । घरमें एकान्त स्थान न हो तो कुछ देरके लिये गाँवसे बाहर किसी बगीचेमें जाकर अभ्यास करें । जप करते-करते भी ध्यान हो सकता है; परंतु हमें इस प्रतीक्षामें ध्यानका आनन्दमय साधन क्यों छोड़ना चाहिये ।

साधनमें न्यूनाधिकता होना साधनसे गिरना नहीं है । गिरना तो तब समझा जाय, जब न्यूनता ही हो । चित्त त्रिगुणमय है और उसमें जन्म-जन्मान्तरके अच्छे-बुरे—सभी प्रकारके संस्कार हैं । उनके कारण उसकी सात्त्विकतामें न्यूनाधिकता तो आती ही रहती है । इससे घबराना नहीं चाहिये । अपना लक्ष्य और उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न बराबर बनाये रखना चाहिये ।

विश्वको भारतकी विशिष्ट देन

(लेखक—पूज्य गुरुजी श्रीमाधवराव सदाशिव गोलवलकर)

अनुभव एवं विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रवादका विनाश हो नहीं सकता। राष्ट्रोंकी आकाङ्क्षाओं-में मेल बिठानेके अबतकके सभी प्रयत्न बुरी तरह असफल हो गये हैं तथा संसार आणविक महाविध्वंसके तत्पर आ खड़ा हुआ है। ऐसी दशामें मानवताके उद्धारका कौन-सा मार्ग शेष रहता है?—इस चुनौती-का कोई भी उत्तर आता प्रतीत नहीं होता। सम्पूर्ण संसारके विचारक एक प्रकारकी दुविधासे ग्रस्त हैं, यद्यपि इसका हल हम हिंदुओंके पास है, तथापि हमारा हल भौतिकवादपर आधारित नहीं है। अबतक-के किये गये सभी प्रयास एवं प्रयोग भौतिकवादसे प्रसूत सिद्धान्तों और वादोंपर आधारित थे और भौतिकवादके पास इस अत्यन्त प्रमुख तथा मूलभूत प्रश्नके लिये कोई उत्तर नहीं कि 'विश्वकी एकता एवं मानव-कल्याणकी थोड़ी भी आकाङ्क्षा लोगोंमें क्यों होनी चाहिये? मनुष्यके विरोधमें मनुष्यके खड़े होनेके दृश्यसे उन्हें थोड़ी भी वेदना क्यों होनी चाहिये? हमें एक-दूसरेसे थोड़ा भी प्यार क्यों करना चाहिये?' भौतिक दृष्टिकोणसे हम सबकी समानरूपसे 'स्थूल' संज्ञा है, हममेंसे प्रत्येक अपनेमें अलग-अलग और एकान्तिक है तथा हममें परस्पर लगाव अथवा प्रेमके कोई बन्धन नहीं हो सकते। ऐसे प्राणियोंमें कोई आन्तरिक संयम भी नहीं हो सकता, जो सम्पूर्ण मानवताके हितमें उन्हें अपने उन्मादी स्वार्थको संयमित करनेकी प्रेरणा दे सके।

अन्ततः विश्वकल्याणकी उपलब्धिके लिये निर्मित कोई व्यवस्था उसी परिमाणमें फलप्रद हो सकती है, जिस परिमाणमें उससे सम्बन्धित व्यक्ति मानवके सच्चे प्रेमसे उत्स्फूर्त होंगे, जो उन्हें मानवताके कल्याण-के साथ अपने व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय चारित्र्यके सुरको मिलानेकी योग्यता प्रदान करेगी। बिना इस परम श्रेष्ठ प्रेरणाके कोई भी योजना, चाहे उसका कितना ही उत्तम अभिप्राय क्यों न हो, सत्ताके मदमें चूर राष्ट्रोंको अपने-अपने स्वार्थसंवर्धनके लिये एक और मोहक आवरण ही प्रस्तुत करेगी। वर्तमान समयतक इतिहास-का यही सतत निर्णय रहा है।

अतः हमारे प्राचीन हिंदू दार्शनिकोंने अपनी दृष्टिको भौतिकवादसे उच्चतर तत्त्वकी ओर मोड़ दिया था। उन्होंने भौतिक विज्ञानोंकी पहुँचके अत्यन्त परे मानवात्माके रहस्योंकी गहराईमें उतरकर सम्पूर्ण सृष्टिमें परिव्याप्त चरम सत्यका, प्राणिमात्रमें वर्तमान एक महान् समान-तत्त्वका, उसे हम आत्मा, ईश्वर, सत्य, वास्तविकता अथवा शून्य—कोई भी संज्ञा दे सकते हैं, आविष्कार किया। समय-समयपर इस समान-तत्त्व-की होनेवाली अनुभूति ही हमें दूसरोंके सुखके लिये उद्यम करनेकी प्रेरणा प्रदान करती है। जो 'अहम्' मुझमें है, वही दूसरे प्राणियोंमें भी होनेके कारण वह मुझसे अपने सहचर जीवित प्राणियोंके सुख-दुःखमें उसी प्रकार प्रतिक्रिया करवाता है, जिस प्रकार मैं अपने निजी सुख-दुःखमें करता हूँ। आन्तरिक तत्त्वकी सजातीयतासे प्रसूत तादात्म्यकी यह विशुद्ध अनुभूति ही मानव-एकता एवं भ्रातृत्वके लिये हमारी नैसर्गिक आकाङ्क्षाके पीछेकी वास्तविक प्रेरक शक्ति है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विश्वकी एकता तथा मानव-कल्याण उसी सीमातक अस्तित्वमें लाया जा सकता है, जहाँतक मानव-प्राणी इस समान आन्तरिक बन्धन-की अनुभूति करता है। एकमात्र उसी अनुभूतिमें यह शक्ति है, जो कि भौतिकवादसे प्रसूत चित्त-क्षोभ और

कलहका दमन कर सकती हैं, मानव-मनके क्षितिजको विस्तृत कर सकती हैं और मानव-कल्याणके साथ व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय आकाङ्क्षाओंका ऐक्य सम्पादित कर सकती हैं।

अब हम दूसरे प्रश्नपर आते हैं। यह समान आधार मानव-समाजकी जटिल संघटनामें स्वयंको किस प्रकार व्यक्त करेगा ? क्या इसका परिणाम राष्ट्रोंके सभी विशिष्ट लक्षणोंका उच्छेद होनेमें और उन सबके एक ही साँचेमें ढाले जानेमें होगा अथवा यह लोगोंके विभिन्न समुदायोंको उनकी अपनी विशेष राष्ट्रीयताकी रक्षा करते हुए मानव-मात्रको एकताकी अनुभूतिके आधारपर सहचारित्वकी भावनासे एक साथ लायेगा ?

इस विषयमें भी हमारे दार्शनिकोंने निर्भ्रान्तरूपसे मानवके वास्तविक आनन्दका मार्ग-निर्देश किया है। व्यक्तिके समान ही राष्ट्र (व्यक्तियोंका सामूहिक योग) का भी अपना एक पृथक् व्यक्तित्व होता है। भूमण्डलके सभी भागोंमें व्यक्तियों एवं राष्ट्रोंके अलग-अलग विशिष्ट लक्षण तथा स्वरूप हुआ करते हैं, जिनमेंसे प्रत्येकका विश्वकी योजनामें अपना स्थान होता है। विभिन्न मानव-सम्प्रदाय अपने-अपने मार्गसे अपनी प्रकृतिके अनुसार एक ही लक्ष्यकी ओर बढ़ रहे हैं। अतः चाहे वह व्यक्ति हो अथवा समुदाय, उसकी अपनी विशिष्टताओंका विनाश उसके सामञ्जस्यके नैसर्गिक सौन्दर्यको ही नष्ट नहीं करेगा, वरं उसके आत्माभिव्यक्तिके आनन्दको भी नष्ट कर देगा। मानव-जीवनका विकास भी, जो कि बहुमुखी होता है, इससे रुद्ध हो जायगा।

यह एक सामान्य अनुभवका विषय है कि अपनी विशिष्टताओंके विकासद्वारा ही व्यक्ति अपनी पूर्ण क्षमतातक विकासकर आनन्द एवं सुखका अनुभव कर सकता है। इसलिये विविध विशिष्टताओंके बीच सामञ्जस्यकी खोज संसारकी चिन्तन-सम्पत्तिमें हमारी विशिष्ट देन है। हमारी जातीय प्रतिभाका जो लक्षण अर्थात् विविधताके बीच एकताकी पहिचान, प्रायः उद्धृत किया जाता है, वह मानवकी एकता, उसके आनन्द एवं विकासकी जड़ोंको सिंचित करनेवाले सिद्धान्तोंके गम्भीर एवं यथोचित मूल्याङ्कनसे उत्पन्न होता है। इस प्रकार संक्षेपमें हम राष्ट्रोंके मध्य सामञ्जस्यपूर्ण संयोग चाहते हैं, उनका विलोप नहीं। यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि भौतिक अस्तित्वके किसी विशिष्ट स्तरपर समस्त मानव-प्राणियोंको लाकर उनके व्यक्तिगत तथा सामुदायिक वैशिष्ट्योंको मिटाते हुए एक राज्यविहीन अवस्थाके निर्माणका विचार हमारे लिये परकीय है। अतः वह विश्वराज्य, जिसकी हम कल्पना करते हैं, स्वायत्त एवं आत्मनिर्भर उन सभी राष्ट्रोंके संघद्वारा विकसित होगा, जो उनके सम्बन्ध-सूत्रोंको बनाये रखनेवाले एक केन्द्रके अधीन रहेंगे।

यह स्पष्ट है कि हिंदू-समाजकी अप्रतिम राष्ट्रीय प्रतिभाके अनुरूप उसे पुनः संगठित करनेका पवित्र कर्तव्य केवल भारतके ही सच्चे राष्ट्रीय पुनरुत्थानका एक कार्यक्रममात्र नहीं है, अपितु संसारकी एकता एवं मानव-कल्याणके स्वप्नको चरितार्थ करनेकी अनिवार्य पूर्वभूमिका भी है। जैसा कि हम देख चुके हैं, संसारकी एकताका सम्पादन करनेवाला यह एक हिंदुओंका ही महान् विचार है, जो मानव-भ्रातृत्वके लिये स्थायी आधार प्रदान कर सकता है। अन्तरात्माका यह ज्ञान मनुष्यमात्रके सुखके लिये परिश्रम करनेकी दिव्य प्रेरणासे मानव-मस्तिष्कको प्रेरित करते हुए भूतलकी प्रत्येक छोटी-से-छोटी जीवन-विशिष्टताको अपनी पूर्ण क्षमतापर्यन्त विकासके लिये पूर्ण एवं स्वतन्त्र अवसर प्रदान करेगा।

यह ज्ञान केवल हिंदुओंके ही पास सुरक्षित है। हम कह सकते हैं कि यह एक पवित्र न्यास (Trust)

है, जिसका भार नियतिने हिंदूको सौंप रखा है। जब किसी व्यक्तिके पास कोई अमूल्य निधि होती है तो उसकी रक्षा कर दूसरोंके कल्याणके लिये उसे उपलब्ध बनाये रखना उसका कर्तव्य माना जाता है। यदि वह अपने इस परम कर्तव्यके पालनमें असफल होता है तो वह अपना ही विनाश नहीं करता, वरं दूसरोंका भी करता है। अतएव हिंदू-समाजको स्वस्थ दशामें सुरक्षित रखनेके पवित्र कर्तव्यका दायित्व हमपर है।

हम यह कैसे कह सकते हैं कि जागतिक महान् लक्ष्यको केवल हिंदू ही पूर्ण कर सकता है, अन्य कोई नहीं। इस प्रकारका दावा करना आपाततः कदाचित् अतिशय गर्वोक्ति प्रतीत हो। तथापि यह सीधा वस्तुस्थितिका निरूपण है, जिसका वास्तविक मूल्याङ्कन अपने देश तथा अन्यान्य देशोंकी ऐतिहासिक प्रक्रियाका सम्यक् निरीक्षण कर हम कर सकते हैं। इतिहासका यह कथन है कि केवल इसी देशमें अति प्राचीन कालसे विचारकों और दार्शनिकों, ऋषियों और मनीषियोंकी पीढ़ीके पश्चात् पीढ़ी मानव-प्रकृतिके रहस्योंका उद्घाटन करनेके लिये उत्पन्न होती रही, जिन्होंने आत्मजगत्में गहराईतक गोता लगाया तथा उस महान् एकरूपताके सिद्धान्तकी अनुभूतिके शास्त्रको आविष्कृत किया एवं परिपूर्ण बनाया। एक सम्पूर्ण राष्ट्रकी तपस्या और त्याग तथा सैकड़ों शताब्दियोंका अनुभव संसारकी आध्यात्मिक तृषाको शान्त करनेके लिये इस ज्ञानके अक्षय स्रोतके रूपमें यहाँ वर्तमान है।

दूसरी ओर भारतसे बाहरके संसारने आत्माके इस शास्त्रका अध्ययन नहीं किया। आजतक अपनी इन्द्रियोंसे बाह्य संसारके ही अध्ययनके अभ्यस्त हो, वे बहिर्मुख ही बने हुए हैं। इन्द्रियाँ भी बहिर्मुखी होनेके कारण आन्तरिक प्रकृतिके तथ्यकी ओर ले जानेमें असमर्थ हैं। इसीलिये पाश्चात्त्य लोग आत्मजगत्के ज्ञान एवं अनुभवसे शून्य बने रहे, चाहे स्थूल जगत्के रहस्योंका कितना ही उद्घाटन उन्होंने क्यों न कर लिया हो। दूसरी ओर हमारे पूर्वज, जिन्होंने इन्द्रियातीत विश्वमें प्रवेश किया, अंदर देख सके और उस भासमान आन्तरिक सत्यकी झाँकी प्राप्त कर सके।

यह केवल शुष्क ज्ञानमात्र नहीं था, जो अपने वन्य आश्रमोंमें बैठकर विचार करनेवाले थोड़ेसे विचारकोंके बौद्धिक अनुमानोंतक ही सीमित रहा हो। यह था एक सजीव विचार, जो हमारे पूर्वजोंको—जिनमें विचारक, प्रशासक, व्यापारी, वैज्ञानिक, कलाकार और दार्शनिक भी थे—विश्वभ्रातृत्वका संदेश पहुँचानेके लिये दूर देशोंतक ले गया। जहाँ भी उन्होंने कदम रक्खा, वहाँके लोगोंको उन्होंने जीवनके आध्यात्मिक और सांस्कृतिक मूल्योंकी तथा भौतिक उन्नतिके शास्त्रोंकी भी शिक्षा दी और अपनी कल्याणकर छायामें राष्ट्रोंके सजातीय भ्रातृत्वका निर्माण किया। सशक्त, आत्मविश्वासपूर्ण एवं आत्मतेजसे उद्भासित हमारे हिंदू-समाजने दूर-दूरतक फैले उस आध्यात्मिक साम्राज्यको एकरूपताकी धुरी प्रदान की।

कोलम्बसके अमेरिकाका पता लगानेके बहुत पहले हमारा विस्तार एक ओर तो अमेरिकातक फैल चुका था और दूसरी ओर चीन, जापान, कम्बुज, मलय, श्याम, हिन्देशिया तथा दक्षिण-पूर्व एशियाके सभी देशों तथा उत्तरमें साइबेरिया और मंगोलियातक फैला था। हमारा सशक्त राजनीतिक साम्राज्य भी इन दक्षिण-पूर्वी सभी क्षेत्रोंमें १४०० वर्षोंतक फैला रहा। एक शैलेन्द्र-साम्राज्य ही ७०० वर्षोंसे अधिक कालतक चीनी विस्तारके विरुद्ध एक शक्तिशाली रोकके रूपमें अत्यन्त उत्कर्षकी अवस्थामें रहा है।

उन सभी शताब्दियोंमें वहाँके स्थानीय लोगोंके द्वारा न तो कभी कोई जन-विप्लव ही हुआ और न उनका

उन्मूलन ही । यदि विदेशी लोगों और विदेशी संस्कृतिके द्वारा आधिपत्य अथवा शोषणके कुछ भी लक्षण होते तो उसका उपर्युक्त परिणाम अनिवार्यरूपसे हुआ होता । इसके विपरीत वे लोग हमारे प्रति कृतज्ञ थे । वे हमारे राष्ट्रके प्रति श्रद्धा रखते थे और अपने इस नश्वर शरीरको गङ्गाजीके किनारे छोड़नेकी कामना करते थे । यह बात इतिहासके उन रक्ताङ्कित पन्नोंके स्पष्टतः कितनी विपरीत है, जिनमें इस्लाम, ईसाइयत और अब कम्युनिज्म तथा दूसरे देशमें उत्पन्न अन्यान्य 'विश्व-विजेताओं' के विस्तार वर्णित हैं । आजके दिन भी उनमेंसे बहुतोंकी आधारभूत जीवनरचना (प्रतिमान) हिंदू ही है । वे हिंदू नाम धारण करते हैं । हम वहाँ चारों ओर हिंदू चेहरे देखते हैं, जिनमेंसे अनेक सम्प्रदायके रूपमें मुसलमान होते हुए भी अपने हिंदू उत्तराधिकारपर गर्व करते हैं । फिलिपाइन्समें न्यायालयके विशाल कक्षमें मनुकी एक स्फटिककी प्रतिमा स्थापित है, जिसपर अङ्कित है—'मानव-जातिका प्रथम, महान् एवं श्रेष्ठ प्रज्ञासम्पन्न विधि-निर्माता ।'

शताब्दियोंसे हमारे समाजमें ऐसी-ऐसी महान् आत्माओंका उदय हुआ है, जिनमेंकी प्रत्येक आत्मा, संसारके विचाराकाशका कान्तिमान् नक्षत्र रही है और अब भी वह समाज वर्तमान कालतक श्रीरामकृष्ण परमहंसके समान ज्योतिष्मान् अनेक आत्माओंको जन्म दे रही है, जिन्होंने केवल मानव-जातिके सुख-दुःखसे ही अपना तादात्म्य अनुभव नहीं किया, वरं चेतन एवं अचेतन—सभी वस्तुओंसे अद्वैत रक्खा । जब उन्होंने एक बार एक गौको हंटरसे पिटते देखा तो वे पीड़ासे चीत्कार कर उठे थे और उनकी पीठपर चौड़ी लाल धारियाँ देखी गयी थीं । एक अन्य अवसरपर चरागाहमें चरते हुए एक बैलके घायल खुरका चिह्न उनकी छाती-पर बन गया था । इस सीमातक आत्मज्ञानके हमारे महान् शिक्षकोंने जीवमात्रके साथ तादात्म्य प्राप्त कर लिया और उसका उपदेश दिया ।

फिर भी आज इस प्रकारका महान् पैतृक दाय उसकी अपनी ही संततिके द्वारा तिरस्कृत हो रहा है और मिटाया जा रहा है । अपने प्राचीन आदर्शों एवं परम्पराओंका तो उपहास करना तथा अन्य आधुनिक 'वादों' के साँचेमें अपने समाजको ढालनेकी बात करना इन दिनोंका फैशन हो गया है । किंतु अपनी जीवन-रचनाओं (प्रतिमानों) के स्थानपर दूसरोंकी जीवन-रचना अधिष्ठित करनेके प्रयत्न करना तथा अपनी स्वाभाविक प्रकृतिके नैसर्गिक विकासकी दिशामें ध्यान न देना केवल अधोगतिका ही परिणाम दे सकेगा । हम अपने समाजपर इसके भयंकर परिणामके चिह्न भी देख रहे हैं । अपना असंगठित एवं आत्मविश्वासहीन समाज विविध वादों और पंथोंकी परिधिमें घूमती हुई हिंस्र शक्तियोंका सरल शिकार हो गया है । आत्मभर्त्सनाका अभ्यस्त, सर्वतोमुखी विघटन एवं छिन्न-विच्छिन्नतासे दुर्बल, दुनियामें प्रत्येक दुष्टके द्वारा बात-बातमें ठुकराया हुआ और अपमानित समाज संसारको कैसे शिक्षा दे सकता है ? वह व्यक्ति किस प्रकार दूसरोंको महानताका मार्ग दिखा सकता है, जिसमें अपने निजके जीवनको उन्नत बनानेकी लगन अथवा योग्यताका अभाव है । अतएव यह अनिवार्य है कि मानव-जातिको अपना अद्वितीय ज्ञान प्रदान करनेकी योग्यताका सम्पादन करने तथा संसारकी एकता और कल्याणके हेतु जीवित करने एवं उद्योग करनेके लिये हमें संसारके समक्ष आत्मविश्वासी, पुनरुत्थानशील और सामर्थ्यशाली राष्ट्रके रूपमें खड़ा होना पड़ेगा ।

वेदका अभेदपरत्व

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी श्रीअखण्डानन्दजी सरस्वती)

प्रश्न—क्या वेदका तात्पर्य—प्रतिपाद्य भेद है ?

उत्तर—नहीं; क्योंकि भेद प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे सिद्ध है। प्रमाणान्तरसे सिद्ध वस्तुका प्रतिपादन करनेपर वेद अज्ञातज्ञापक प्रमाण नहीं रहेगा, दूसरे प्रमाणसे सिद्ध पदार्थका अनुवादक हो जायगा। जो वस्तु साक्षीके अनुभवसे ही सिद्ध हो रही है, उसकी सिद्धिके लिये वेदतक दौड़नेकी क्या आवश्यकता है ? वेद ऐसी वस्तु बताता है, जो प्रत्यक्ष, अनुमान आदिसे सिद्ध नहीं होती। वेद साक्षीमात्रका भी प्रतिपादक नहीं है; क्योंकि वह तो स्वतःसिद्ध है और सबका प्रकाशक है। वेदका वेदत्व साक्षीको ब्रह्म बतानेसे ही सफल होता है।

वस्तुतः बात यह है कि परिच्छिन्न स्थूल-सूक्ष्म पदार्थोंसे अभेद अथवा तादात्म्य होना अज्ञानका लक्षण है। दृश्य, साक्ष्य अथवा भेदमात्रसे अपनेको पृथक् द्रष्टा जानना विवेक है। इस पृथक्त्वमें भिन्नत्व अनुस्यूत है। जडसे चेतन आत्मा भिन्न है। यह भिन्नत्वकी भ्रान्ति भी अज्ञानकृत है। वेद प्रमाणान्तरसे अज्ञात आत्माकी अपरिच्छिन्नता—अद्वितीयताका बोध करा देता है। आत्मा होनेसे चेतन है, ब्रह्म होनेसे अपरिच्छिन्न, अद्वितीय है। इस ऐक्यके ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है, भेद बाधित हो जाता है। यह अज्ञानकी निवृत्ति और बाधित भेद भी आत्मस्वरूप ही है; क्योंकि वह अधिष्ठान आत्मासे भिन्न नहीं है। प्रमाणान्तरसे अज्ञात वस्तुका बोध करानेके कारण ही श्रुतिका वास्तविक प्रामाण्य है।

प्रश्न—तब क्या भेद सत्य नहीं है ?

उत्तर—कदापि नहीं। भेद सर्वथा मिथ्या है, परिच्छिन्नके तादात्म्यसे ही वह सत्य भासता है। जिस अधिष्ठानमें भेद भास रहा है, उसीमें उसका अत्यन्ताभाव भी भास रहा है। अपने अभावके अधिष्ठानमें भासना ही मिथ्याका लक्षण है। इसलिये यह युक्ति बिलकुल ठीक है—**'भेदो मिथ्या स्वभावाधिकरणे भासमानत्वात्'**। यह अनुभवसिद्ध है कि अधिष्ठान-ज्ञानसे भेद मिथ्या हो जाता है। इसलिये वेदका तात्पर्य मिथ्या भेदके प्रतिपादनमें नहीं है, प्रत्युत भेदके भाव और अभावके अनुकूल शक्ति, मायाके अधिष्ठानके प्रतिपादनमें है।

प्रश्न—तब क्या भेदके प्रतिपादनसे किसी प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती ?

उत्तर—भेदके प्रतिपादनसे अर्थ-धर्म-कामरूप तीनों पुरुषार्थोंकी सिद्धि होती है, परंतु मुक्तिकी सिद्धि नहीं होती। भेदमें परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति दुःख है, अहंकार दुःख है, राग-द्वेष दुःख हैं और जन्म-मरण भी दुःख हैं। भेदमें समाधि-विक्षेप नहीं छूटते, सुख-दुःख नहीं छूटते, पाप-पुण्य नहीं छूटते और संयोग-वियोग भी नहीं छूटते; इसलिये भेदमें जन्म-मरणका चक्र अव्याहतरूपसे चलता रहता है। इसलिये मुक्तिरूप पुरुषार्थकी सिद्धि भेदसे नहीं हो सकती। मुक्ति स्वयं आत्माका स्वरूप ही है। ज्ञानरूपसे उपलक्षित आत्मा ही अज्ञानकी निवृत्ति है। निवृत्ति कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। इसलिये मुक्तिमें प्राप्य-प्रापकभाव, साध्य-साधन-भाव आदि भी नहीं हैं। इससे सिद्ध होता है कि श्रुतिका तात्पर्य भेदके प्रतिपादनमें नहीं है; क्योंकि भेदकी सिद्धिसे मुक्तिकी सिद्धि नहीं हो सकती।

प्रश्न—फिर भेद-प्रतिपादक श्रुतियोंका क्या होगा ?

उत्तर—भेद-प्रतिपादक श्रुतियाँ अविरक्त अधिकारीके लिये हैं। उनसे लौकिक-पारलौकिक सिद्धिकी प्राप्ति होती है, वे व्यष्टि-समष्टिका कल्याण करती हैं, अन्तःकरणको शुद्ध करती हैं, मुमुक्षुको ज्ञानोन्मुख करती हैं। इसलिये व्यवहारमें

उनका बहुत ही उपयोग है; परंतु जहाँ वस्तुकी प्रधानतासे परमार्थ-तत्त्वका निरूपण है, वहाँ श्रुतियाँ भेदको ज्ञाननिवर्त्य, अतएव मिथ्या बताती हैं। जो वस्तु अज्ञानसे निवृत्त होती है, वह भी मिथ्या ही होती है। अतएव सर्वाधिष्ठान, सर्वावभासक, स्वयम्प्रकाश प्रत्यक्चैतन्याभिन्न अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वके अज्ञानसे तद्विषयक अज्ञानकृत सर्व भेदकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

बात यह है कि केवल इन्द्रिययन्त्रोंसे तत्त्वका अनुसंधान करनेपर केवल एक या अनेक जड सत्ताकी ही सिद्धि होती है। चिद्वस्तु यन्त्रग्राह्य नहीं है। केवल बुद्धिसे अनुसंधान करनेपर बुद्धिकी शून्यता ही परमार्थरूपसे उपलब्ध होती है; क्योंकि विचार-विक्षेपात्मक बुद्धिका अन्तिम सत्य निर्वाणात्मक शून्य ही है। भक्तिभावनायुक्त बुद्धिके द्वारा अनुसंधान करनेपर सर्व-प्रमाण-प्रमेय-व्यवहारके मूलभूत सर्वज्ञ सर्वशक्ति परमेश्वरकी सिद्धि होती है। ऐसी स्थितिमें स्वतःसिद्ध साक्षीको अपरिच्छिन्न-अद्वितीय ब्रह्म बतानेके लिये कोई इन्द्रिययन्त्र या भाव-भक्ति समर्थ नहीं है। उसका ज्ञान केवल औपनिषद-ऐक्यबोधक महावाक्यसे सम्पन्न होता है।

आस्तिकताकी आधार-शिलाएँ

आप चाहेंगे उसी दिन, उसी क्षणसे आपको सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन होने लग जायँगे।

आप चाहते हैं कि हमारा सर्वत्र भगवद्भाव हो। सच्ची बात तो यह है कि भगवान्‌के अतिरिक्त कोई वस्तु है ही नहीं; बस, सर्वत्र केवल भगवान्-ही-भगवान् हैं। पर वे भगवद्-रूपमें इसलिये नहीं दीखते कि मनुष्य पूरा-का-पूरा भगवद्-रूपमें उन्हें देखना नहीं चाहता। सच मानिये, जिस दिन, जिस क्षण आपका मन चाहेगा कि मेरी आँखें सर्वत्र भगवान्‌को ही देखें, उसी दिन, उसी क्षणसे आपको सर्वत्र भगवान्‌के दर्शन होने लग जायँगे। आप देखना चाहते हैं—सोना, चाँदी, खान-पानकी वस्तु, पहननेके कपड़े, गप लड़ानेवाले मित्र-साथी, सेवा करनेवाला नौकर आदि। तब भगवान् सोचते हैं कि 'मेरा प्यारा भक्त अभी मुझे इन चीजोंके रूपमें ही देखना चाहता है तो मैं अपना रूप बदलकर उसके चित्तको क्यों दुखाऊँ? वह चाहता है, सोना-चाँदी आदि देखना तो मैं सोना-चाँदी आदि बनकर ही उसके सामने जाऊँगा। वह भक्त मेरा प्यारा है, मेरे प्यारेको जिस बातमें सुख हो, वही मुझे करना है।' इसलिये सर्वत्र भगवान्-ही-भगवान् होनेपर भी आपको तरह-तरहकी चीजें दीखती हैं। ये तबतक दीखती रहेंगी, जबतक आप इन्हें देखना चाहेंगे। यह सर्वथा आपके हाथकी बात है। आज आपके मनमें केवल मोरमुकुटधारी रूपको देखनेकी इच्छा हो जाय तो आज ही ईंट-पत्थर-चूनेका अणु-अणु बदलकर श्रीकृष्णरूप हो जाय। यह सर्वथा ध्रुव सत्य है।

प्रत्येक प्रतिकूल परिस्थितिमें अपने प्रियतम प्रभुका दर्शन करनेका अभ्यास कीजिये

मनमें बार-बार सोचते रहिये—'मेरा कुछ भी नहीं है, सब कुछ प्रियतम प्रभुका है। सबपर उनका ही अधिकार है। मैं एवं मुझसे सम्बन्ध रखनेवाली समस्त चीजें उनकी हैं, वे अपने इच्छानुसार इनका उपयोग करें'—यह भावना जितनी दूरतक दृढ़ होगी, उतनी ही दूरतक आप सांसारिक सुख-दुःख और सांसारिक चिन्ताओंसे अलग हो जाइयेगा। मनमें मान रखा है कि 'अमुक वस्तु मेरी है'; इसीलिये उसके बनने-बिगड़नेकी चिन्ता होती है। यदि सचमुच किसीका मन यह स्वीकार कर ले कि यह 'सब उनका है' तो फिर

सांसारिक दृष्टिमें जो चीज बिगड़ती हुई दीखेगी, उसके सम्बन्धमें भी वह ठीक अनुभव करेगा कि वह बिगड़ नहीं रही है; क्योंकि कोई भी बुद्धिमान् अपनी चीजको बिगाड़ता नहीं, नष्ट नहीं करता। यदि बिगाड़ता भी है तो उसका रूप और भी सुन्दर बनानेके लिये बिगाड़ता है। भगवान् तो बुद्धिमानोंकी बुद्धिकी जो चरम सीमा है, उससे भी अनन्तगुना अधिक बुद्धिमान् हैं। वे भला, व्यर्थ ही अपनी चीज कैसे बिगाड़ेंगे? वे बिगाड़ नहीं रहे हैं—वे तो बना ही रहे हैं, और भी सुन्दर बना रहे हैं। सच मानिये, किसी प्रकार इस वास्तविक स्थितिकी एक किरणकी भी झाँकी यदि कोई कर पाये तो दुःख उसके जीवनसे सदाके लिये नष्ट हो जाता है। जबतक यह अनुभव नहीं हो, तबतक अगणित संतोंके अनुभवपर विश्वास करके ऐसी भावना कीजिये कि यहाँ सब मङ्गल-ही-मङ्गल हो रहा है। श्रीकृष्ण यदि **'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्'** की घोषणा करते हैं तो विपत्ति जो मृत्युके ही भाई-बन्धुओंमेंसे एक है, वह भी वे ही हैं। विपत्ति अर्थात् मनके प्रतिकूल परिस्थिति भी श्रीकृष्ण ही हैं। रूप भयानक है; पर यदि पत्नी समझ ले कि मेरे नाथ ही मेरे पास ऐसा रूप धरकर आये हैं तो वह उस समय भी उनका स्वागत करेगी; क्योंकि पतिव्रता रूपसे प्यार नहीं करती, पतिसे प्यार करती है। अतएव मनके प्रतिकूल किसी भी परिस्थितिमें अपने प्रियतम प्रभुका दर्शन करनेका अभ्यास कीजिये। वे ही हैं, सचमुच वे ही हैं; आपसे अपनेको उस रूपमें छिपाये हुए आते हैं, इसलिये आप डर जाते हैं। अनन्त संतोंकी बातें झूठ नहीं हैं, वे त्रिकाल-सत्य हैं। आप उस रूपमें देखकर उनका स्वागत करें; फिर उनसे रहा नहीं जायगा। उस भयावह रूपसे इतने मधुर रूपमें परिणत हो जायँगे कि आप ही हँसने लगियेगा। अभी भी होता तो वही है। संसारमें आजतक किसीके भी जीवनमें ऐसी कोई घटना नहीं हुई, जिसका परिणाम मङ्गलमय नहीं हुआ हो। पर भयानक रूपमें जब भगवान्‌का प्रकाश होता है, तब लोग रोते हैं; वही मधुर रूपमें परिणत होता है, तब हँसते हैं। पर दोनों समय इस बातको नहीं जानते कि इन दोनों रूपोंके भीतर कौन छिपा है। भक्त उसे जानता है और उस छिपे रहनेवालेसे जो उसका सम्बन्ध है, उसे भी जानता है। इसलिये उसे दुःख नहीं होता। भोले भक्त डर भी जाते हैं, पर उस समय भी वे अपने स्वामीको ही याद करते हैं; क्योंकि उनकी दृष्टिमें उनके लिये और कोई भी सहायक नहीं होता और स्वामीको याद करते ही, भले ही स्वामी अपनी विपत्तिकी पोशाक तुरंत न बदलें, वे मनमें ऐसा भाव कर देते हैं, जिससे भय जाता रहता है। अतः किसी भी प्रकार हो, अपनेको उनसे जोड़ लें; जुड़े हुए तो हैं ही, इसे अनुभव करें। वे आपके हैं, आप उनके हैं, उनकी सब चीजें आपकी हैं—आपकी सब चीजें उनकी हैं—इसको मान लें।

बस, तीन ही बातें

जीवनका अनमोल समय जितना भी बच रहा है, सब-का-सब प्रिया-प्रियतमके चरणोंमें समर्पित होकर ही बीते—यह उद्देश्य आप याद रक्खें। उद्देश्य यदि स्मरण रहा तो सम्भवतः जीवनके अन्तिम श्वासतक दया करके वे आपको अपने-आप स्वीकार कर लें। आपसे बस तीन बातें ही कहनी हैं—

(१) उनकी कृपाकी आशा।

(२) जीभसे नामका निरन्तर अभ्यास।

(३) भागवतका पाठ।

—इन्हें मत छोड़ियेगा; फिर जीवनकी धारा किसी दिन एकाएक एक क्षणमें ही पलट जायेगी।

मन प्रिया-प्रियतमका धाम बन जाय, यह चेष्टा कीजिये।

यह सत्य है कि शरीर तो एक दिन जायगा ही;

पर शरीर भी आपका नहीं है। यह तो प्रिया-प्रियतमकी सम्पत्ति है। उन्होंने यह आपको दिया है। यदि आप इसे बना नहीं सकते तो जान-बूझकर बिगाड़नेका अधिकार भी आपको नहीं है। अपनी जानमें स्वास्थ्यके नियमोंकी अवहेलना करना ही इसे बिगाड़ना है। यह नहीं होना चाहिये। साथमें यह भी नहीं होना चाहिये कि शरीरकी सेवामें ही मन फँसा रहे। मन तो प्रिया-प्रियतमका धाम बन जाय, यह चेष्टा होनी चाहिये। जिस दिन मन सर्वथा प्रिया-प्रियतमका धाम बन जायगा, उस दिन तो इस शरीरकी स्मृति ही मिट जायगी। पर जबतक ऐसा सौभाग्य नहीं होता, तबतक मुख्यवृत्ति भजनकी ओर, एवं गौणवृत्ति भजनके साधनरूप शरीरकी ओर रखकर ही आगे बढ़ना चाहिये। इससे उन्नति ही होगी।

× × ×

प्रिया-प्रियतमने अत्यन्त दया करके जिन्हें व्रजमें निवास दे दिया—समस्त सुखकी खान व्रजभूमि जिनको मिल गयी, उन्हें चाहिये कि व्रजभूमिमें, व्रजराजदुलारेमें, वृषभानुदुलारीमें मनको रमा दें। सच्ची बात है, व्रजके समान सुख और कहीं भी नहीं है—

कहँ सुख व्रज कौ-सौ संसार।
कहाँ सुखद बंसीवट, जमुना, यह मन सदा बिचार॥
कहँ बनधाम, कहाँ राधासँग, कहाँ संग व्रज-बाम।
कहँ रस-रास बीच अंतर सुख, कहाँ नारि तन ताम॥
कहाँ लता, तरु-तरु प्रति बूझनि, कुंज-कुंज नव धाम।
कहाँ बिरह-सुख बिनु गोपिन सँग, सूरस्याम मन काम॥

गीताका भक्तियोग—८

(पूज्य स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजद्वारा की गयी गीताके बारहवें अध्यायकी आनुपूर्वी विस्तृत व्याख्या)

[गताङ्क पृष्ठ १२०७से आगे]

सम्बन्ध

भगवान्‌ने आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक एक साधनमें असमर्थ होनेपर दूसरा साधन बतलाते हुए चार साधन बतलाये; इससे ऐसी शङ्का होती है कि अन्तमें बताया हुआ सर्वकर्मफल-त्यागका साधन कदाचित् सबसे निम्न श्रेणीका है। इस शङ्काको दूर करनेके लिये एवं उक्त (सर्वकर्मफलत्याग) साधनका फल बतलानेके लिये इस श्लोककी अवतारणा की गयी है—

श्लोक

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥१२॥

भावार्थ

पूर्वश्लोकोंमें आठवेंसे ग्यारहवेंतक अधिकारि-भेदसे भगवान्‌ने चार साधन बतलाये। जिस साधककी प्रकृतिके अनुकूल जो साधन है, उसके लिये वही कल्याण करनेवाला है। किंतु पूर्वोक्त साधनोंकी ओर दृष्टि दी जाय और उनके एक-एक अंशको लेकर भी उनके तारतम्यपर विचार किया जाय तो फलका त्याग ही सबसे ऊँचा सिद्ध होता है।

जिस अभ्यासमें ज्ञान नहीं है और जिस ज्ञानमें अभ्यास नहीं है—इन दोनोंमें अभ्यासकी अपेक्षा केवल ज्ञान श्रेष्ठ है। इसी प्रकार जिस ज्ञानमें अभ्यास नहीं है, ध्यान नहीं है और कर्मफलका त्याग भी नहीं है और जिस ध्यानमें ज्ञान नहीं है और कर्मफलत्याग भी नहीं है—उन दोनोंमें केवल ध्यान श्रेष्ठ है। पुनः जिस ध्यानमें ज्ञान नहीं है, फलका त्याग भी नहीं है और जिस कर्मफलत्यागमें ज्ञान नहीं है, ध्यान भी नहीं है, उन दोनोंमें कर्मफल-त्याग श्रेष्ठ है; क्योंकि कर्मफलत्यागसे तत्काल ही परमशान्ति अर्थात् भगवत्प्राप्ति हो जायगी। कारण यह

है कि संसारके साथ सम्बन्ध केवल आसक्ति और फलेच्छाको लेकर ही है—

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।
(गीता १३ । २१)

फलका त्याग आसक्तिके त्यागसे ही सम्भव है, अतः फलत्यागसे संसारके प्रति आसक्तिका नाश होनेपर जन्म-मरणका कोई कारण ही नहीं रहता और मनुष्य परम-शान्तिको प्राप्त हो जाता है ।

विशेष ध्यान देनेकी बात

आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक भगवान्‌ने चार साधन बतलाये—१. ध्यान, २. अभ्यासयोग, ३. भगवान्‌के लिये ही सम्पूर्ण कर्मोंका अनुष्ठान और ४. सर्वकर्मफलत्याग । इन चारों साधनोंका फल भगवत्प्राप्ति ही है, किंतु साधकोंकी भिन्न-भिन्न रुचि और योग्यताके कारण ही इन साधनोंकी भिन्नता है ।

अपने साधनको छोटा मानकर साधकको भगवत्प्राप्तिके विषयमें कभी निराश नहीं होना चाहिये; क्योंकि साधन छोटा-बड़ा होता ही नहीं । यदि साधकका उद्देश्य भगवत्प्राप्ति हो, साधन अपनी रुचिके अनुसार हो और साधनको अपनी पूरी सामर्थ्य लगाकर, पूरी तत्परतासे किया जाय तो सभी साधन एक समान हैं । अपने उद्देश्य, सामर्थ्य, चेष्टा एवं तत्परतामें कभी न्यूनता नहीं आनी चाहिये । भगवान् साधकसे इतनी ही अपेक्षा रखते हैं कि वह अपनी पूरी शक्ति एवं योग्यताको साधनामें लगा दे । यह बात ठीक है कि हम परमात्म-तत्त्वको नहीं जानते; किंतु परमात्मा तो हमारे उद्देश्य, भाव, तत्परता आदिको जानते ही हैं । यदि हम अपने उद्देश्य, भाव, योग्यता, तत्परता आदिमें किसी प्रकारकी कमी नहीं रक्खेंगे तो भगवान् कृपा करके अपनी प्राप्ति करा देंगे । वास्तवमें अपने उद्योग, बल और ज्ञान आदिसे तत्त्वकी प्राप्ति नहीं हो सकती; भगवान्‌की दी हुई सामर्थ्यको भगवान्‌के लिये ही उपयोगमें लानेसे भगवान् अपनी कृपासे अपनी प्राप्ति करा देते हैं ।

संसारमें सबसे सुगम भगवत्प्राप्ति ही है और इसके सभी अधिकारी हैं । कर्म भिन्न-भिन्न होनेके कारण संसारके पदार्थ किन्हीं दोको भी एक समान नहीं मिल सकते, जब कि परमात्मा एक होनेसे भगवत्प्राप्ति सबको एक ही होती है । जीवात्मा भगवान्‌का अंश है और अंश अंशीको ही प्राप्त होता है ।

अन्वय

हि, अभ्यासात्, ज्ञानम्, श्रेयः, ज्ञानात्, ध्यानम्, विशिष्यते, ध्यानात्, कर्मफलत्यागः, त्यागात्, अनन्तरम्, शान्तिः ॥ १२ ॥

हि—क्योंकि

अभ्यासात्—अभ्याससे

'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः'
(पातञ्जलयोगदर्शन १ । १३)

"किसी विषयमें स्थिति उपलब्ध करनेके लिये बार-बार प्रयत्न करनेका नाम 'अभ्यास' है।" यहाँ 'अभ्यास' शब्द अभ्यासमात्रका वाचक है। जिस अभ्यासमें शास्त्रज्ञान और ध्यान नहीं हैं और फलेच्छाका त्याग भी नहीं है, वह अभ्यास-योगका वाचक नहीं है ।

ज्ञानम्—परोक्षज्ञान

सत्सङ्गमें सुननेसे और शास्त्रोंको पढ़नेसे जो अध्यात्मविषयक जानकारी हुई है, परंतु जिस जानकारी-के अनुसार अभीतक अनुभव नहीं हुआ है तथा जिस जानकारीमें अभ्यास, ध्यान और कर्मफलत्याग—तीनों ही नहीं हैं, ऐसी जानकारीके लिये यहाँ 'ज्ञानम्' पद आया है ।

तीसरे अध्यायके २९वें तथा ४०वें श्लोकोंमें, चौथे अध्यायके ३४वें श्लोकमें तथा ३९वें श्लोकमें दो बार, पाँचवें अध्यायके १५वें श्लोकमें तथा १६वें श्लोकमें

'ज्ञानेन' एवं 'ज्ञानम्', दसवें अध्यायके ३८वें श्लोकमें, तेरहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें दो बार, चौदहवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकोंमें और अठारहवें अध्यायके ६३वें श्लोकमें 'ज्ञानम्' पद तत्त्वज्ञानका वाचक है।

सातवें अध्यायके दूसरे और नवें अध्यायके पहले श्लोकमें भगवान्‌के निर्गुण-निराकार तत्त्वके प्रभाव, माहात्म्य और रहस्यसहित यथार्थ ज्ञानको 'ज्ञानम्' कहा गया है और 'विज्ञान' शब्द सगुण-निराकार और दिव्य साकार तत्त्वके लीला, रहस्य, गुण, महत्त्व, प्रभावसहित यथार्थ ज्ञानका वाचक है।

दसवें अध्यायके ४थे श्लोकमें 'ज्ञानम्' पद साधारण ज्ञानसे लेकर तत्त्वज्ञानतकका वाचक है।

तेरहवें अध्यायके ११वें और १८वें श्लोकोंमें 'ज्ञानम्' पद साधनरूप ज्ञानका वाचक है।

तेरहवें अध्यायके १७वें श्लोकमें 'ज्ञानम्' पद ज्ञानस्वरूप परमात्माके लिये आया है।

चौदहवें अध्यायके ९वें, ११वें और १७वें श्लोकोंमें तथा पंद्रहवें अध्यायके १५वें श्लोकमें 'ज्ञानम्' पद विवेक-ज्ञानके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है।

अठारहवें अध्यायके १८वें और १९वें श्लोकोंमें 'ज्ञानम्' पद साधारण ज्ञानका वाचक है तथा २०वें श्लोकमें 'ज्ञानम्' पद सात्त्विक ज्ञानका वाचक है। २१वें श्लोकमें दो बार आया हुआ 'ज्ञानम्' पद लौकिक ज्ञानका वाचक है तथा ४२वें श्लोकमें 'ज्ञानम्' पद शास्त्रज्ञानका वाचक है।

श्रेयः—श्रेष्ठ है (और)

ज्ञानात्—शास्त्रज्ञानसे

ध्यानम्—मुझ परमेश्वरके स्वरूपका ध्यान

किसी विषयमें मन-बुद्धिके लगनेका नाम 'ध्यान' है। जिस ध्यानमें ज्ञान और कर्मफलत्याग नहीं है, उस ध्यानके लिये यहाँ यह पद आया है।

तेरहवें अध्यायके २४वें श्लोकमें 'ध्यानेन' पद साधनरूप ध्यानका वाचक है। दूसरे अध्यायके ६२वें श्लोकमें 'ध्यायतः' पद चिन्तनके अर्थमें आया है। इसी अध्यायके ६ठे श्लोकमें 'ध्यायन्तः' पद अनन्य चिन्तनके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। अठारहवें अध्यायके ५२वें श्लोकमें 'ध्यानयोगपरः' पद निर्गुण-तत्त्वके ध्यानपरायण पुरुषके लिये आया है।

विशिष्यते—श्रेष्ठ है (तथा)

ध्यानात्—ध्यानसे (भी)

कर्मफलत्यागः—सब कर्मोंके फलका त्याग। कर्म-फल-त्यागमें कर्मोंका स्वरूपसे त्याग न होकर कर्मोंमें और कर्मफलमें ममता-आसक्ति एवं कामना-वासनाके त्यागकी बात है। उसीको 'जडसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद' कहते हैं।

(विशिष्यते)—श्रेष्ठ है (और)

त्यागात्—त्यागसे। यहाँ यह पद कर्मफल-त्यागके लिये ही आया है। त्यागके विषयमें एक विशेष बात समझनेकी यह है कि त्याग उसी वस्तुका होता है, जो वास्तवमें स्वरूपसे हमारी है नहीं, परंतु भूलसे अपनी मानकर जिसके साथ हम इतने घुल-मिल गये हैं कि उसे ही अपना स्वरूप मान बैठे हैं या जिसे हमने अपनी मान ली है। जो वस्तु स्वरूपसे अपनी है, उसका त्याग हो ही नहीं सकता; जैसे सूर्य प्रकाश और गर्मीका त्याग नहीं कर सकता। जो वस्तु अपनी है ही नहीं, उसका त्याग ही कैसा? अतः त्याग उसी वस्तुका ही करनेके लिये कहा जाता है, जो वस्तु स्वरूपसे अपनी है नहीं, पर भूलसे अपनी मान ली गयी है। इसीलिये यह पद यहाँ कर्मों और उनके फलके साथ भूलसे जोड़े हुए सम्बन्धको त्यागनेके अर्थमें ही आया है।

अनन्तरम्—तत्काल ही

शान्तिः—परमशान्ति होती है। इस पदका तात्पर्य परमशान्तिसे है, उसीको 'भगवत्प्राप्ति' कहते हैं।

दूसरे अध्यायके ७०वें तथा ७१वें श्लोकोंमें, चौथे अध्यायके ३९वें श्लोकमें, पाँचवें अध्यायके १२वें तथा २९वें श्लोकोंमें, छठे अध्यायके १५वें श्लोकमें, नवें अध्यायके ३१वें श्लोकमें और अठारहवें अध्यायके ६२वें श्लोकमें 'शान्तिम्' पद परमशान्तिका ही वाचक है।

दूसरे अध्यायके ६६वें श्लोकमें और सोलहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'शान्तिः' पद तथा अठारहवें अध्यायके ५३वें श्लोकमें 'शान्तः' पद अन्तःकरणकी शान्तिके लिये आया है।

तुलना

आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक भगवान्‌ने चार स्वतन्त्र साधन बतलाये हैं। इन चारों साधनोंका फल एक भगवत्प्राप्ति ही है। इसलिये यदि इनके तारतम्यपर विचार किया जाय तो इन चारों साधनोंमेंसे मुख्य एक-एक अंशको लेकर ही उनकी तुलना की जा सकती है। अतः भगवान् यहाँ चारों साधनोंके मुख्य एक-एक अंशको लेकर तुलना कर रहे हैं।

इस तुलनामें 'ज्ञान' शब्दको भगवान् सर्वप्रथम लाये हैं। इसका कारण यह है कि सभी साधनोंमें ज्ञानकी आवश्यकता है। बिना ज्ञानके कोई साधन करेगा ही कैसे? अतः ज्ञान सब साधनोंके अन्तर्गत है।

ज्ञान और अभ्यासकी तुलनामें ज्ञानका अर्थ शास्त्र-ज्ञान है, विवेक अथवा तत्त्वज्ञान नहीं। (सत्-असत्, आत्मा-अनात्मा, नित्य-अनित्य, शुचि-अशुचि और सुख-दुःखको यथार्थ जाननेका नाम 'विवेक' है।) जिस ज्ञान और अभ्यासकी तुलना की जा रही है, उस ज्ञानमें न अभ्यास है, न ध्यान है और न फलत्याग ही है और अभ्यास भी केवल ऐसे अभ्यासका वाचक है, जिसमें न ज्ञान है, न ध्यान है और न फल-त्याग है।

किसी भी कार्यकी निष्पत्ति सुचारुरूपसे तभी होगी, जब कर्ता उस कामको करनेकी कला जानता हो और उस कामको करे। किसी कामकी कलाको जाननेवाला आवश्यकता होनेपर उस कामको कर सकता है, परंतु कलासे अनभिज्ञ पुरुष कामको करनेकी इच्छा होते हुए भी काम नहीं कर पाता। काम करनेसे पहिले उसे कामकी कलाको जानना पड़ेगा। अतः अकेला ज्ञान तो काम कर सकता है, किंतु अकेला अभ्यास नहीं। ज्ञानवाला जब कभी अभ्यास करेगा, उसका अभ्यास तेजीसे होगा। ज्ञानवालेको अभ्यास करनेमें सुगमता होगी, जब कि अभ्यासवालेको क्रियाशील होनेके कारण ज्ञान होनेमें कठिनाई होगी और देरी लगेगी। केवल ज्ञान भगवत्प्राप्तिकी इच्छा उत्पन्न करके भगवत्प्राप्ति करा देगा, जब कि अभ्यास ज्ञानको जाग्रत् करके ही भगवत्प्राप्ति करा सकता है। इन्हीं कारणोंसे अभ्यासकी अपेक्षा ज्ञानको श्रेष्ठ बतलाया गया है।

ध्यान और ज्ञानकी तुलनामें—'ध्यान' उस ध्यान-का वाचक है, जिसमें ज्ञान और कर्मफलत्याग नहीं है और 'ज्ञान' केवल शास्त्रज्ञानका वाचक है, जिसमें न ध्यान है, न अभ्यास है और न फलत्याग ही है।

ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है। प्रायः ऐसा देखनेमें भी आता है कि शास्त्रज्ञानी संसारमें बहुत मिलते हैं, जब कि ध्यानवाले पुरुष मनकी एकाग्रताकी कमीके कारण बहुत थोड़े मिलते हैं। ध्यानवाला मनकी एकाग्रताके कारण जहाँ मन लगायेगा, वहाँ ही सिद्धि-को प्राप्त कर लेगा। ध्यानसे मनकी चञ्चलताका नाश होगा, जब कि केवल शास्त्रज्ञानसे यह नहीं होगा। ध्यानवालेके मनकी चञ्चलताका नाश होनेके कारण वह शास्त्रज्ञानवालेकी अपेक्षा भगवत्प्राप्ति सुगमता और

शीघ्रतासे कर लेगा । ध्यान करनेवालेको मनकी एकाग्रताके कारण ज्ञानकी प्राप्ति बहुत सुगमतासे हो सकती है, जब कि शास्त्रज्ञानवालेको मनकी चञ्चलताके कारण ध्यान लगानेमें बहुत परिश्रम पड़ेगा ।

शास्त्रज्ञानवालेकी अपेक्षा ध्यानवालेका परमात्माके साथ सम्बन्ध अधिक रहता है । जितने अंशमें जिस साधन-में परमात्माके साथ अधिक सम्बन्ध है, वह साधन श्रेष्ठ है । इसलिये भी ज्ञानसे ध्यान श्रेष्ठ है ।

कर्मफल-त्याग और ध्यानकी तुलनामें ऊपर कहा जा चुका है कि कर्मफलत्यागमें कर्मोंका खरूपसे त्याग अभिप्रेत नहीं है, अपितु कर्मोंमें और उनके फल-में जो ममता, आसक्ति, कामना, वासना आदि हैं, उन्हींका त्याग कर्मफलका त्याग है और 'ध्यान' उस ध्यानका वाचक है, जिसमें न ज्ञान है और न कर्म-फलत्याग है ।

ध्यानसे कर्मफल-त्याग श्रेष्ठ है । प्रायः ऐसा देखा भी जाता है कि ध्यानवाले कई पुरुष मिल सकते हैं, किंतु फलका त्यागी कोई विरला ही मिलेगा । कर्मफल-त्यागकी संसारमें आसक्ति न रहनेसे जडके साथ सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है । संसारमें जो राग है, वही जीवात्माका बन्धन है । संसारके साथ सम्बन्ध रहनेसे ही मनुष्यको ऊँच-नीच योनियोंमें भटकना पड़ता है (गीता १३ । २१) । कर्मफलत्यागीका जडके साथ सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होनेके कारण उसकी खतः ही परमात्मामें स्थिति है; इसलिये उसे ध्यानकी आवश्यकता नहीं है । यदि वह ध्यान लगाना चाहे तो सांसारिक कामना न होनेके कारण उसे ध्यान लगानेमें कोई कठिनाई नहीं है, जब कि ध्यानवालेको सकामभाव अर्थात् कर्मफल त्यागनेमें बहुत कठिनाई होगी और विना सकामभाव छूटे भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती ।

दसवें श्लोकमें भगवान्‌के लिये समस्त कर्म करना भगवत्प्राप्तिका साधन बतलाया गया है । उक्त साधनमें भी फलका त्याग है, यद्यपि है भगवान्‌के लिये और सर्वकर्मफलत्यागमें तो फलका त्याग है ही; इसलिये दोनों साधनोंमें कर्मफलके साथ सम्बन्ध न रहनेके कारण ध्यानके साथ उनकी अलग-अलग तुलना न करके भगवान्‌ने यहाँ इस श्लोकमें 'कर्मफलत्याग' पदसे दोनोंकी एक साथ ही तुलना की है ।

भगवान्‌ने आठवें श्लोकसे ग्यारहवें श्लोकतक एक-एक साधनमें असमर्थ होनेपर क्रमशः समाधि, अभ्यासयोग, भगवदर्थ कर्म और कर्मफलत्याग—ये चार साधन बतलाये । इससे आपाततः यह जान पड़ता है कि क्रमशः एकसे दूसरा साधन निम्न श्रेणीका है, सुतरां कर्मफलत्यागका साधन सबसे निम्न श्रेणीका है ।

पहले तीन साधनोंमें भगवत्प्राप्तिरूपी फलकी बात भी साथ-साथ कही गयी; परंतु ग्यारहवें श्लोकमें, जहाँ चौथा साधन करनेकी आज्ञा दी गयी है, वहाँ उसका फल भगवत्प्राप्ति नहीं बतलाया गया । इससे भी उपर्युक्त धारणाकी पुष्टि होती है कि यह चौथा साधन निम्न श्रेणीका है ।

समाधि, अभ्यासयोग, कर्मसमर्पण और कर्मफल-त्यागके साधनोंको क्रमशः बतानेका तात्पर्य यह है कि साधककी सांसारिक क्रिया जितनी कम होगी—वह उतना ही अधिक परमात्मामें लीन माना जायगा । समाधिमें क्रिया है ही नहीं, अभ्यास योगमें थोड़ी क्रिया है; परंतु कर्मसमर्पण और कर्मफलत्यागमें तो क्रिया ही है । इसलिये ऐसा क्रम दिया गया है । लौकिक दृष्टिसे समाधिमें भगवान्‌के साथ सबसे अधिक सम्बन्ध है, अभ्यासयोगमें उससे कम, कर्मसमर्पणमें उससे भी कम और कर्मफलत्यागमें सबसे कम । इस दृष्टिसे भी कर्मफलत्यागका साधन निम्न श्रेणीका दीखता है ।—

किंतु भगवान्‌ने कर्मफलत्यागको श्रेष्ठ और उससे तत्काल परमशान्ति होना बतलाकर यह स्पष्ट कर दिया कि इस चौथे साधनको कोई निम्न श्रेणीका न समझ ले; क्योंकि साधनमें त्यागकी ही प्रधानता है न कि क्रियाकी।

सूक्ष्मदृष्टिसे विचार किया जाय तो पता चलेगा कि मन-बुद्धि लगाने, अभ्यासयोग करने और भगवदर्थ कर्म करने—इन तीनों ही साधनोंमें जडके साथ सम्बन्ध रहता है; परंतु कर्मफलत्यागमें तो जडका सर्वथा त्याग है। इसीलिये यह सबसे श्रेष्ठ है।

इस प्रकार अभ्यास, ज्ञान, ध्यान—इन सबसे कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है। अभ्यास, ज्ञान, ध्यान—इन तीनोंमें भी फलत्याग करनेसे ही मुक्ति होगी। जबतक साधकमें किसी फलकी कामना है, तबतक वह मुक्त नहीं हो सकता—'फले सक्तो निबध्यते।' (गीता ५।१२) कर्मफलत्यागीमें ममता, आसक्ति, कामना, वासनाका सर्वथा अभाव होनेके कारण जडसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद होकर तत्काल परमशान्तिकी प्राप्ति होती है—

'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।'
(गीता ५।१२)

इस साधकको अलगसे अभ्यास, ज्ञान, ध्यान करनेकी आवश्यकता नहीं है। अभ्यास, ज्ञान, ध्यान—इन तीनोंमें ही जड मन-बुद्धि-इन्द्रियोंका आश्रय है; जब कि कर्मफलत्यागमें जडका आश्रय नहीं है, बल्कि उससे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद है।

आठवें श्लोकमें मन-बुद्धि द्वार हैं, नवें श्लोकमें अभ्यास द्वार है तथा दसवें श्लोकमें कर्मद्वार है, परंतु कर्मफलत्यागमें द्वार है ही नहीं—केवल त्याग ही है। विचारकर देखनेसे पता लगता है कि जडके द्वारा चिन्मयताकी प्राप्ति थोड़े ही होती है! चिन्मयता तो जडके त्यागसे बनी हुई है ही। इसमें मर्मकी बात यह है कि 'मैं' का आधार है परमात्माका अंश; वह नित्य ही मुक्त है। परंतु जडतासे सम्बन्ध जोड़कर उसने अपनेको संसारी मान लिया, अर्थात् वह अपनी वास्तविकताको भूल गया। इसी बातको संतोंने—

'जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥'
(श्रीरामच० मा० उत्तर० ११६।२)

इन शब्दोंमें कहा है। कर्मफलत्यागसे जडके साथ सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर तत्काल ही परमशान्ति मिल जाती है।

भगवान्‌ने यहाँ जो चार साधन बतलाये हैं, विचार करके देखा जाय तो उनमेंसे प्रत्येकमें चारों ही बातें हैं। जैसे (१) भगवान्‌में मन-बुद्धिका लगना रूप ध्यान तो है ही, अभ्यास भी पहलेका किया हुआ है,—नहीं तो ध्यान होता ही कैसे। अतः इसमें वह गतार्थ है; ध्यान भगवान्‌के प्रति समर्पण है ही एवं ध्यानका फल कोई लौकिक एषणा नहीं है। (२) अभ्यास-योगमें—जितने अंशमें साधकका मन लगा रहता है, उतने अंशमें उसे ध्यान हो ही रहा है तथा अभ्यास वह करता ही है; अभ्यास यदि वह भगवान्‌के लिये करता है तो उसका भगवान्‌के प्रति समर्पण है ही एवं नाशवान् फलकी इच्छा है ही नहीं। (३) भगवदर्थ कर्म करनेमें—ध्येय है परमात्माकी प्राप्ति; मन लगता है, इस रूपमें ध्यान हो ही रहा है; कर्म करना अभ्यास है; भगवत्प्रीत्यर्थ तो वह करता ही है एवं नाशवान् पदार्थोंकी एषणा उसमें है नहीं। और (४) भगवदर्थ कार्य करनेमें भी फलका त्याग है ही, यद्यपि है वह भगवान्‌के लिये और सर्वकर्मफलत्यागमें भी फलका त्याग है—अतः वे ही चारों बातें इसमें हैं।

जब चारों ही साधनोंमें चारों बाते हैं, तब फिर साधनोंमें श्रेणी कैसी? अर्थात् साधन कोई छोटा-बड़ा नहीं है।

वास्तवमें साधकको सबसे पहले अपने लक्ष्य, ध्येय अथवा उद्देश्यको ठीक करना चाहिये। इसके बाद उसका खास सम्बन्ध किसके साथ है, यह पहचानना चाहिये। फिर साधन कोई-सा भी करे—चाहे ध्यान करे, अभ्यासयोग करे, भगवत्प्रीत्यर्थ कर्म करे या कर्मफल त्याग करे, वही साधन उसके लिये श्रेष्ठ हो जायगा; क्योंकि जब उसका लक्ष्य स्थिर हो जायगा कि उसे परमात्माको ही प्राप्त करना है एवं वह यह भी पहचान लेगा कि अनादिकालसे उसका परमात्माके साथ सम्बन्ध है, तब फिर कोई-सा भी साधन उसके लिये छोटा नहीं रह जायगा। साधन छोटा-बड़ा तो लौकिक दृष्टिसे है। साधनकी कमी वास्तवमें कमी नहीं है, उद्देश्यमें कमी ही कमी है। अतः साधकको चाहिये कि उद्देश्यमें यत्किंचित् भी कमी न आने दे। उद्देश्य पूर्ण होनेपर साधनकी कमी तो स्वतः पूरी हो जायगी।

साधन-विशेषके करनेमें असमर्थताकी बात इसलिये कही गयी है कि ध्यान, अभ्यासयोग, भगवदर्थ कर्म करना एवं कर्म-फलका त्याग—इनमेंसे कोई भी साधन सभी साधकोंके लिये सुगम अथवा उपयोगी हो, ऐसी बात नहीं है। जो साधन एकके लिये सुगम है, वही दूसरेके लिये कठिन हो सकता है। अतः जिसकी जैसी योग्यता हो, उसके अनुसार ही साधन करना उसके लिये सर्वोत्तम होगा। वैसे चारों ही साधन स्वतन्त्र और उत्तम हैं। इसलिये जो कोई भी साधन हम करें, उसे श्रेष्ठ मानना चाहिये।

भगवान्ने गीताजीमें स्थान-स्थानपर कर्मफल-त्यागियों अर्थात् कर्मयोगके साधकोंकी विशेष महिमा कही है। जैसे (१) **'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्द-ब्रह्मातिवर्तते।** गीता ६। ४४ उत्तरार्ध' (कर्मयोगका जिज्ञासु भी सकाम कर्मोंके वेदोक्त फलको उल्लङ्घन कर जाता है।) निष्काम कर्मयोगके जिज्ञासुकी भी जब इतनी महिमा कही गयी है, तब फिर जो सर्वथा कर्मफलत्यागी है, उसकी तो बात ही क्या है।

(२) तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः। कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
(गीता ६। ४६)

—इस श्लोकमें श्रीभगवान्ने निष्काम कर्मयोगीको तपस्वियों, शास्त्रज्ञानियों और सकामकर्मियों—सबसे श्रेष्ठ बतलाया है और अर्जुनको योगी होनेकी आज्ञा दी है। यहाँ इस श्लोकसे भी इसी बातकी पुष्टि हुई है कि कर्मफलत्याग ज्ञान, अभ्यास और ध्यान—सबसे श्रेष्ठ है।

(३) स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
(गीता २। ४०)

'निष्काम कर्मयोगका थोड़ा-सा भी साधन साधकका जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है।'

(४) बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥
(गीता २। ३९)

सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय—इनमें सदा सम रहनेको 'सम-बुद्धि' कहते हैं; इसी समबुद्धिका नाम 'कर्मयोग' है। ऐसी सम-बुद्धिसे युक्त पुरुषके लिये भगवान् कहते हैं कि 'वह शुभाशुभ कर्मोंके बन्धनसे मुक्त हो जायगा।' इस प्रकार कर्मयोगकी महिमा यहाँ विशेषतासे बतलायी गयी है।

मार्मिक बात—परमात्मतत्त्वकी प्राप्तिमें संसारसे वैराग्य और परमात्माकी प्राप्तिकी उत्कण्ठा—ये दो बातें ही मुख्य हैं। साधन कोई-सा भी हो, जब सांसारिक भोगोंका त्याग हृदयसे होगा और भोग दुःखदायी प्रतीत होने लगेंगे—वर्तमान स्थिति असह्य हो जायगी, तब परमात्माकी ओर प्रगति स्वतः ही होगी और परमात्म-तत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी।

इसी तरह परमात्मा जब प्रिय लगने लगेंगे, भगवान्के बिना रहा नहीं जायगा, भगवान्के वियोगमें बेचैनी पैदा हो जायगी तो परमात्मतत्त्वकी प्राप्ति हो जायगी।

ऊपर जो चार साधन बतलाये गये हैं—इनमें तीन साधन केवल परमात्माको प्राप्त करनेकी उत्कण्ठा

जगानेके लिये है और चौथा साधन संसारसे वैराग्य उत्पन्न करनेके लिये।

कारण इसका यह है कि परमात्मतत्त्व सदा सबको नित्य प्राप्त होनेपर भी सांसारिक पदार्थोंके संग्रह और उनसे होनेवाले सुख-भोगमें जो ममता, आसक्ति आदि है, वही परमात्माकी प्राप्तिमें असली बाधा है। यह बाधा हट जानेपर प्राप्तिमें देरी नहीं होगी।

साधनोंके भेद तो साधककी योग्यता एवं रुचिके अनुसार होते हैं। वास्तवमें कोई भी साधन छोटा-बड़ा नहीं है। साधककी रुचि एवं योग्यताके अनुसार किया जानेवाला साधन ही उत्तम होता है। रुचि, विश्वास, योग्यता, परिस्थिति, सङ्ग, स्वाध्याय आदि सबके मिलनेसे साधन सहज होता है। जैसे भूख सबकी एक-सी होती है और भोजन करनेपर तृप्ति भी सबकी एक-समान होती है पर भोजनकी रुचि अलग-अलग होती है, भोजनके पदार्थ भी प्रकृति और रुचिके कारण भिन्न-भिन्न होते हैं, ऐसे ही साधकोंकी रुचि, विश्वास, प्रकृतिके अनुसार साधन अलग-अलग होते हैं, जब कि परमात्मासे विमुख और संसारके सम्मुख होनेपर दुःख-संताप-जलन (भूख) एक-सी होती है और किसी तरह-का भी साधक क्यों न हो, पूर्णता होनेपर भगवत्प्राप्ति-रूपी आनन्दकी प्राप्ति (तृप्ति) भी एक-सी ही होती है।

निःश्वास

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी महाराज)

रे मन! तुझे शान्त बनना है अथवा अशान्त? यदि तू शान्तिका इच्छुक है तो तुझे दूसरोंके अवगुणोंसे क्या लेना है? यदि उसमें एक भी गुण है तो उसे ग्रहण कर, जिससे तुझे शान्ति मिले। यदि तुझे एक भी गुण नहीं दीखता तो अपना रास्ता पकड़, अवगुणोंकी खोज मत कर।

रे मन! तू दूसरोंकी बुराई आखिर क्यों करता है? अपनी प्रतिष्ठाके निमित्त अथवा डाहसे? यदि तू डाहके कारण किसीकी बुराई करता है तो समझ ले अपनी उन्नतिके मार्गमें तू आप ही गहरी खाइयाँ खोद रहा है और यदि दूसरोंकी बुराई करके अपनेको प्रतिष्ठित बनाना ही तेरा उद्देश्य है तो तू भूल कर रहा है। दूसरोंकी बुराई करके आजतक किसीने प्रतिष्ठालाभ नहीं किया, प्रत्युत वे जनताकी दृष्टिसे गिर गये। दूसरोंकी प्रतिष्ठा करनेसे ही मनुष्य प्रतिष्ठित बनता है।

× × ×

रे मन! तू सर्वदा ही अपनी प्रशंसा सुननेको उत्सुक क्यों रहता है? तुझे पता नहीं, यह भयंकर रोग है; इस राज-रोगके चक्करमें पड़कर तू अपना सर्वस्व खो बैठेगा। यदि तुझे इस रोगके कुछ भी लक्षण दीखते हों तो शीघ्र ही जाकर इसकी कहीं चिकित्सा करा; यदि यह रोग असाध्य हो गया तो फिर धन्वन्तरि भी इसका इलाज करनेमें समर्थ नहीं होंगे। फिर सिवा हाथ मलते रह जानेके कुछ भी हाथ न लगेगा।

× × ×

मन रे! देख, भैया! तू अपना ही है, इसीसे मैं तुझसे तथ्यकी बात कहता हूँ। जबतक तू अपनेको बड़ा समझकर सबसे ऐंठता रहेगा, तबतक छोटे भी तुझसे भीतर-ही-भीतर घृणा करेंगे। फिर चाहे वे तेरे मुँहपर स्पष्ट कुछ न कहें, तेरी पीठके पीछे वे तेरी अवश्य बुराई करेंगे; किंतु यदि तू अपनेको छोटा समझकर सबसे नम्रतापूर्वक बर्ताव करेगा तो बड़े-से-बड़ा अभिमानी भी तेरे सामने नहीं, तो तेरे चले जानेके पश्चात् तेरी अवश्य प्रशंसा करेगा।

मन! तुझे मैं एकान्तमें समझाता हूँ। तू दूसरोंके स्वार्थकी सर्वदा शिकायत क्यों करता रहता है? तू पहले अपनेको तो देख, क्या तू बिल्कुल निःस्वार्थ है? क्या तू सबसे निःस्वार्थ-भावसे ही मिलता है? यदि नहीं तो फिर तुझे दूसरोंकी शिकायत करनेका क्या अधिकार है? पहले तू अपनेको निःस्वार्थ बना ले, फिर तुझे दूसरोंकी शिकायत करनेका अवसर ही न मिलेगा। कारण, स्वार्थीके पास ही स्वार्थी आता है; निःस्वार्थीके पास स्वार्थीकी दाल नहीं गलती।

× × ×

देख मन ! यदि तू सबसे अपनी सत्य-सत्य स्थिति कहेगा तो वे भी अपनी यथार्थ स्थिति तेरे सामने प्रकट करेंगे। उससे तुझे बहुत अधिक लाभ होगा और यदि तू सबके सामने अपनी बात बढ़ा-चढ़ाके कहेगा तो इससे लाभ कुछ होनेका नहीं, उल्टे तुझे जो अनुभव हो सकता था, उससे भी तू वञ्चित रहा। यथार्थ स्थिति आज नहीं, तो कल अवश्य ही प्रकट हो जायगी।

× × ×

अच्छा, तैंने रामसे मित्रता क्यों की थी? इसीलिये न कि वह भी मुझसे मित्रता करे। फिर यदि उसके रुपये माँगनेपर तूने उसे मना कर दिया और अब वह तुझसे प्रेम नहीं करता तो झींकता क्यों है? कारण कि मित्रता करनेमें तेरा भी तो स्वार्थ था।

तू चाहता क्या है? यही न कि तेरे पास क्षुद्र हृदयके मनुष्य न आयें। यह तो बड़ी सहज बात है, अपने मनसे तू क्षुद्रताको निकाल दे। क्षुद्र आदमी फिर तेरे पास भी न फटकेंगे। चारेको देखकर ही चिड़ियाँ आती हैं। जब चारा ही न होगा तो चिड़ियाँ अपने-आप लौट जायँगी, उन्हें भगाना भी न पड़ेगा।

× × ×

रे मन! जब तू सैकड़ों बार जलेबियोंको खाकर भी फिर उन्हें खानेकी इच्छा रखता है, कल भरपेट भोजन करके भी आज फिर उसी भोजनको चाहता है, नित्य एक ही प्रकारके पानीको दिनमें कई बार पीता है तो फिर धर्मोपदेशोंकी इस पोथीको देखकर तू नाक सिकोड़कर यों क्यों कहता है—'इसे तो मैं पढ़ चुका हूँ'।

× × ×

जब तू दूसरोंके मनोभावोंको झटसे समझ जाता है, तब क्या तुझे विश्वास है कि दूसरे लोग तेरे मनोगत भावोंको न समझ सकेंगे? यदि ऐसी ही बात है तो तू दूसरोंसे छ्लाव-ल्पेटकी बातें क्यों करता है? स्पष्ट क्यों नहीं अपने मनोगत भावोंको प्रकट करता?

× × ×

मधुमक्खी चाहे जितना भी सुन्दर, स्वादिष्ट और मीठा मधु एकत्रित क्यों न कर ले, फिर चाहे उससे दूसरोंका उपकार ही क्यों न होता हो, दीपककी जलती हुई लौमें प्राण निछावर करना पतंगके ही हिस्सेमें आया है। लाख प्रयत्न करनेपर भी मधुमक्खीमें वह शक्ति नहीं आ सकती।

× × ×

भगवान् बुद्धने एक मृत व्यक्तिकी लाशको देखकर अपने सारथिसे पूछा, 'छन्दक! यह कौन है?' छन्दकके यह कहनेपर कि 'प्रभो! यह मृत प्राणी है, एक दिन सभीकी यही गति होगी', वे राज्य-पाट छोड़कर जंगलोंमें चले गये।

श्मशानके समीप लकड़ी बेचनेवाला मनुष्य भी सैकड़ों आदमियोंकी लाशें देखता है। उसे सिवा अपने पैसोंके किसी दूसरी बातकी चिन्ता ही नहीं! सभी मनुष्य बुद्धके-जैसे हृदयवाले थोड़े ही होते हैं!

× × ×

कालिदासकी स्त्रीने जब देखा कि 'मेरा पति मूर्ख है', तब उसने उसका तिरस्कार किया। कालिदासके हृदयमें चोट लगी और जब वह पूर्ण विद्वान् होकर घर आया, तब उसने अपनी स्त्रीको मुँह दिखाया।

सैकड़ों स्त्रियाँ अपने मूर्ख पतियोंका तिरस्कार करती हैं। परंतु न तो वे सभी कालिदास-जैसे विद्वान् हो गये, न तुलसीदास-जैसे सुदृढ़ भक्त महात्मा! संसारके लोग बाहरकी घटनाओंको ही देखते हैं, भीतर कैसी ज्योति जल रही है, इसे भला, वे जान ही कैसे सकते हैं?

× × ×

नाटक खेलनेवाले अपने खेलको पहलेसे ही ठीक किये रहते हैं; उन्हें जो खेल करने होते हैं, उन सबकी जानकारी रहती है। वे किसी भी घटनाको नयी नहीं समझते; किंतु अन्य दर्शकगण सभी घटनाओंको कुतूहलकी दृष्टिसे देखते हैं। वे देखते हैं कि इस समय यह खेल हो रहा है, सहसा दूसरा होने लगा। जिसे वे सहसा कहते हैं, नाटकवालोंके लिये वह निश्चित पुरानी घटना है।

इसी प्रकार हम संसारमें प्रतिदिन घटित होनेवाली घटनाओंको देखकर उसे अकस्मात् हुई कहने लगते हैं। जिसे हम अकस्मात् कहते हैं, वह सर्वान्तर्यामीके लिये निश्चित और साधारण-सी बात है।

रे मन! जब तेरा बनाया हुआ आजका ही कार्यक्रम जैसा तू चाहता है, वैसा नहीं होता, तब फिर वर्षके कार्यक्रमके चक्करमें पड़ना तेरे लिये व्यर्थ ही है।

× × ×

दूसरोंमें तू जिन गुणोंको देखकर प्रसन्न होता है, यदि वे ही गुण तेरे नित्य-नैमित्तिक जीवनके साथी बन जायँ तो फिर तेरी प्रसन्नताका क्या ठिकाना रहेगा ।

× × ×

जितनी ही प्यारी वस्तुका बलिदान किया जायगा, उसके बदले उतनी ही, बल्कि उससे भी प्यारी वस्तुकी प्राप्ति होगी। बलिदानका महत्त्व वस्तुसे नहीं, किंतु हृदयसे जाना जाता है ।

× × ×

तू अपनी तर्कनाशक्तिके द्वारा इस विश्व-ब्रह्माण्डके नियन्ताको जानना चाहता है ? तुझे पता नहीं कि जिसने इस विश्वको सृजा है, वह असली तर्कका उद्गम-स्थान है ! उसके तर्कके सामने तेरे तर्कका उतना ही महत्त्व है, जितना अनन्त जलराशिके सम्मुख एक छोटे-से जलकणका । उतने तर्कको ही पाकर तू उस तर्क-निधिकी थाह लेना चाहता है । बावले ! तू भूल रहा है ! यदि तू यथार्थमें कुछ जानना ही चाहता है तो तर्कका आश्रय छोड़, हृदयका पल्ला पकड़ । हृदयसे कुछ अनुभव कर भी सकता है । उसमें प्रेमको स्थान दे, भक्तिसे वह बँध सकता है !

× × ×

तेरा सिक्का यदि खरा है तो तू भले ही चोरोंमें भी जाकर उसका व्यवहार कर; तुझे धोखा कभी नहीं होनेका ! यदि तुझे अपने सिक्केके खरे होनेमें स्वयं ही संदेह है तो बात दूसरी है ।

क्षमा, शील, प्रेम, शिष्टाचार आदि सद्गुणोंका प्रयोग हम सबके साथ बिना किसी भेद-भावके कर सकते हैं । सचाईसे कोई भी मुँह नहीं मोड़ सकता । यह बात दूसरी है कि वह स्वयं भले ही इसका उपयोग न करे; किंतु इसकी उपयोगितामें कोई भी आपत्ति नहीं करनेका ।

× × ×

किसी वस्तुमें महत्त्व थोड़े ही है, उसके उपयोगमें ही महत्त्व है । प्रेमानन्दकी बात सुननेको लोग क्यों लालायित रहते हैं ? इसीलिये न कि वह अपनी वाणीका व्यर्थ उपयोग नहीं करता ।

× × ×

तूने अपने जीवनमें कितने आदमियोंको मरते देखा है और कितनोंको जन्मते ? बहुतोंको न ! तब फिर क्या तुझे विश्वास नहीं कि एक दिन तुझे भी कालके गालमें जाना है ? यदि हाँ, तो इस निश्चयको तू दिनमें कितनी बार स्मरण करता है ?

संसारके सभी कार्य करते समय यदि तुझे इस निश्चयका स्मरण बना रहे तो फिर तुझसे बुरे काम कभी हो ही नहीं सकते ।

× × ×

जिस हृदयमें प्रेम है, उसमें लोभ कहाँ ! प्रेमी प्रेम करते समय धन नहीं देखता, विद्या नहीं देखता, बुद्धि नहीं देखता, कुल नहीं देखता, उच्च-नीचका विचार नहीं करता, अन्तिम परिणामकी ओर वह दृष्टिपात नहीं करता । वह तो देखता है खाली हृदय । जहाँ वह शुद्ध, स्वच्छ और प्रेमसे परिपूर्ण हृदय देखता है, वहीं बिना कुछ आगा-पीछा किये टूट पड़ता है । प्रेमीके हृदयको अपने हृदयमें मिलाकर एकीभाव कर लेता है ।

× × ×

अरे महत्त्वाकाङ्क्षा रखनेवाले सज्जन ! ओ महापुरुष बननेकी इच्छावाले पुरुष ! जरा ठहरकर हमारी दो बातें सुनता जा, तब आगे बढ़ना ।

देखना, खूब समझ-सोचकर कदम बढ़ाना । बड़ी-बड़ी बाधाएँ वेष बदलकर तेरे सामने आयेंगी, उनकी बातोंमें बहक मत जाना । उनमें सार कुछ भी नहीं है, खाली प्रलोभन भर है ।

'एक बार विषयका भी आनन्द लेना चाहिये । संसारमें थोड़ा-थोड़ा सभीका अनुभव करना चाहिये ।'—ये दलीलें तुझे गिरानेके लिये ही हैं । विषयोपभोगोंमें रत हुए मनुष्योंमेंसे तैंने किसीको सुखी पाया है ? यदि नहीं, तो फिर अनुभूतका क्या अनुभव करना ? पिसेको और क्या पीसना ? आगे बढ़ ।

× × ×

'जब कुछ है ही नहीं, तो त्याग किसका करें ?'— ये जालके भीतरके दाने हैं । तुझे जाल नहीं दीखता, खाली दानोंको ही देखकर तू उनपर गिरना चाहता है ! अरे ! वस्तुओंके छोड़नेको 'त्याग' थोड़े ही कहते हैं । वस्तुओंको त्यागकर भी बहुत-से अत्यागी बने हुए हैं । अनेक जन्मोंकी जो वासनाएँ तेरे अंदर भरी हुई हैं, असलमें उन्हींको तो छोड़ना है । उनके लिये यह आवश्यक नहीं है कि चौबीसों घंटे तू विषयोपभोगकी सामग्री जुटानेमें ही लगा रहे । उनके छोड़नेके लिये एकान्तमें निरन्तर अभ्यासकी आवश्यकता है ।

× × ×

पका आम प्रयत्न करनेपर भी पेड़में लगा नहीं रह सकता। वह अपने-आप ही वहाँसे अलग हो जायगा, दूसरे लोग स्वतः ही उसके द्वारा आनन्दका उपभोग करेंगे। जो प्रबल वायुके झोंकोंसे अथवा किसीके संसर्गसे बिना पके ही गिर पड़ेगा, वह या तो दूसरोंके दाँत खट्टे करेगा अथवा सड़कर दुर्गन्धि उत्पन्न करेगा; उसकी तीसरी कोई गति नहीं। पके आमकी भाँति वह अपना स्थानापन्न छोड़ जानेकी शक्ति भी नहीं रखता।

× × ×

ओ परोपकारकी डींग मारनेवाले पुरुष! तू देवालय, पुस्तकालय, अनाथालय और विद्यालयोंके लिये सर्वदा ऊँचे-ऊँचे भवन बनानेकी चिन्तामें व्यर्थ ही क्यों व्यस्त रहता है! तुझे यदि सचमुच ही कुछ परोपकार करना है तो उस परोपकार-निधि सच्चे प्रभुका पल्ला जाकर क्यों नहीं पकड़ता? सच्चेके आश्रयमें रहकर तू भी सच्चा हो जायगा। फिर यदि तैंने आचार्य बनकर एक भी सत्-शिष्य तैयार कर दिया तो मानो तैंने हजारों विद्यालय बनवा दिये। विद्यालयकी ये कच्ची ईंटें तो एक दिन नष्ट भी हो जायँगी, किंतु तेरा सत्योपदेश कभी नष्ट नहीं होनेका।

× × ×

ओ विरागी! तू अपनी एक स्वतन्त्र कुटिया बनवाकर कुटियाकी चिन्तासे मुक्त होना चाहता है, यह तेरा खाली भ्रम है। एक कुटियाकी चिन्ता मिटते ही तुझे लाखों दूसरी चिन्ताएँ आकर घेरने लगेंगी। लिपाई, पुताई, बनवाई, भोजन-रक्षा, अतिथियोंकी चिन्ता तथा अनेकों व्याधियाँ तुझे आ घेरेंगी। इससे तू और भी अधिक चिन्तातुर हो जायगा।

अरे! इस विश्व-ब्रह्माण्डमें प्रभुके बनाये असंख्यों स्थान पड़े हैं, उनमेंसे किसी एकका आश्रय लेकर उस चिन्तासे मुक्त होनेका प्रयत्न कर कि जिस चिन्ताके पीछे ये सांसारिक प्राणी नाना प्रकारकी यातनाओंको भोग रहे हैं।

× × ×

साधक, सावधान! द्रव्यके रूपमें, मित्रके रूपमें, खाद्य-पदार्थोंके रूपमें, प्रशंसा और बड़ाईके रूपमें वे ही हरि तेरी परीक्षा लेनेके निमित्त आते हैं। ये तुझे भुलावा देनेके लिये रूप धारण किये हैं। यदि तू इन भुलावोंमें न पड़ा तो भक्तवत्सल हरि स्वयं ही अपना असली स्वरूप तुझे दिखायेंगे।

× × ×

नवशिक्षित साधक! तेरे निकट मित्र-दोस्त आते हैं तो उन्हें देखकर तू क्षुब्ध मत हो; उन्हें तू साक्षात् पुरुषोत्तम समझ, प्रेमपूर्वक उनकी पूजा कर, अर्चना और वन्दना कर। कल्याणकारी प्रभु तेरा उसीमें कल्याण करेंगे और तुझे आगेका पथ वे स्वयं बतायेंगे।

× × ×

आत्मार्थी! जब तेरा इस बातपर पूर्ण विश्वास है कि वे प्रभु दयाके सागर हैं, तो तू आगेकी चिन्ता क्यों करता है? अनन्य भावसे उनका ही आश्रय ग्रहण कर; फिर चाहे वे किसी ओर क्यों न ले जायँ।

× × ×

ओ उपदेशक! यदि तेरे उपदेशोंमें कुछ भी सचाई है तो उसे प्रकाशित करनेके निमित्त तुझे लोगोंकी खुशामद नहीं करनी होगी। घासके ढेरके अंदर रक्खी हुई अग्नि जिस प्रकार आप-से-आप प्रकाशित हो जाती है, उसी प्रकार तेरा सत्य भी स्वयं ही प्रकट हो जायगा।

× × ×

रे मन! जब तुझे कोई कार्य करना होता है तो तू झटसे यह दलील उपस्थित कर देता है कि 'जब सब परमात्माकी इच्छासे ही हो रहा है, तब फिर मेरा अहंकृत-भाव कहाँ रहा'? बात ठीक है, किंतु इस बातकी भी कसौटी है कि कौन-सा काम स्वतः ही परमात्माकी इच्छासे हुआ है। इसकी पहचानके दो अस्त्र हैं—हर्ष और विषाद।

संयोग और वियोग परमात्माकी इच्छासे ही होते हैं, यदि संयोगमें तुझे सुख और वियोगमें विषाद हुआ तो समझना चाहिये, अहंकृत-भाव अभी मौजूद है।

× × ×

सुख और दुःख सभी परमात्माकी इच्छासे होते हैं। यदि सुखमें हर्ष और दुःखमें विषाद उत्पन्न हो तो समझ लेना चाहिये कि अभी अहंकृत-भाव बना ही हुआ है।

अच्छे और बुरे—सभी काम परमात्माकी प्रेरणासे ही होते हैं। अच्छे कामोंको करते हुए प्रसन्नता हो और यह भाव उत्पन्न हो कि 'ऐसा अच्छा काम मेरे ही द्वारा हो रहा है' इसी प्रकार कोई बुरा कार्य हो जाय तो उससे चित्तमें खेद हो कि 'ऐसा बुरा कार्य मैंने क्यों किया' तो समझ लेना चाहिये कि अभीतक अहंकृत भावने पिण्ड नहीं छोड़ा।

× × ×

'इस कामके करनेसे लोग मेरी प्रशंसा करेंगे और अमुक काम मैंने किया तो न जाने लोग क्या कहेंगे?'—कार्यके आरम्भ करनेके पूर्व यदि ये भाव हृदयमें उत्पन्न हों, तो समझ लेना चाहिये कि अहंकार अस्त्र-शस्त्र लिये हमारे सिरपर खड़ा हुआ है।

× × ×

'महाराज! आप धन्य हैं, आपके सभी कार्य श्लाघ्य हैं। यह बड़ा ओछा आदमी है, ढोंग बनाये घूमता रहता है। इसके पेटमें कतरनी चलती रहती है।'—इन पृथक्-पृथक् दो तरहकी बातोंको सुनकर जिसके हृदयमें दोनोंके सम्बन्धमें अलग-अलग दो तरहके भाव उत्पन्न हों तो समझ लेना चाहिये कि हमारा निरभिमान बननेका विचार भी अहंकार-मूलक है।

× × ×

'अरे! महाराज! आप कहाँ बैठ गये, आपके लिये तो वह उच्चासन खाली पड़ा है।' 'जहाँ तुम्हारी तबियत आये, बैठ जाओ। तुम कोई धन्नासेठ थोड़े ही हो! उधर बड़े आदमियोंके बैठनेकी जगह है, उधर न जाने पाओगे।' इन दो प्रकारके सत्कार वाक्योंको सुनकर यदि आपके हृदयकी गति दो ओर एक-दूसरेके प्रतिकूल बहती है तो समझ लें कि अभी अहंकार-अहिका विष पूर्णरीत्या नहीं उतरा है।

× × ×

'अरे राम! इस वेषसे यदि मैं गया तो लोग क्या कहेंगे? अमुक स्थानमें मुझे खूब बन-ठन कर जाना चाहिये'—इन शब्दोंमें स्पष्टतया बनावटकी बू है। बनावटको ही 'अहंकृति' कहते हैं।

× × ×

'आपने अभी मुझे पहचाना नहीं, मैं कौन हूँ; जाओ अमुकसे कह दो, वे आये हैं।' किसी अवस्था-विशेषको छोड़कर ये भाव अहंकार-सूचक हैं।

× × ×

ओ उतावले उपदेशक! अनुयायियोंके आगमनके निमित्त तू इतना अधिक उतावला क्यों होता है? यदि तेरे पास उस 'रसानां रसः'का कुछ भी सार होगा तो मधु-लुब्धक भ्रमर तुझे गुप्त-से-गुप्त स्थानमें भी खोज लेंगे। जिसके पास कस्तूरी है, उसके अस्तित्वके लिये पूछना नहीं पड़ता। उसकी सुगन्ध ही सुयोग्य ग्राहकोंको उसके अस्तित्वका परिचय करा देती है।

'इस प्रकारका आचरण यद्यपि उत्तम है, तथापि मुझे लोक-शिक्षार्थ इसे न करना चाहिये।'—यदि ऐसा भाव आये तो समझो, अहंकार अव्यक्तरूपसे अपना काम कर रहा है। नहीं तो अरे ओ पगले! तू क्या लोक-शिक्षा कर सकता है? शिक्षकोंका शिक्षक तुझे जिस प्रकारकी शिक्षा देगा, तुझे तो वही करना होगा। निमित्त होकर भी कर्ताका अभिमान करना, यही तो तेरी निजकी सम्पत्ति है और इसीके कारण तू प्रभुसे बहुत दूर पड़ा हुआ है।

× × ×

'चल हट, कहाँकी ज्ञान-गाथा बघारने लगा! ऐसी सैकड़ों बातें मैंने लाखों बार सुनी हैं और अनेकों बार पुस्तकोंमें पढ़ी हैं।'—यों कहनेवाले उस ज्ञानलवदुर्विदग्ध पण्डितको देखकर पागल बना हुआ ब्रह्मज्ञानी पुरुष कुछ मुस्कुराकर अपना रास्ता पकड़ लेता है।

तूने यदि कर्म, उपासना, ध्यान, जप, तप, संयम, तीर्थ, व्रत या अन्य उपायोंके द्वारा अपनेको अखिलेशके पाद-पद्मोंके पास पहुँचनेका अधिकारी नहीं बना लिया तो साक्षात् ब्रह्मासे भी यदि तेरी भेंट हो जाय तो उससे भी तेरा कुछ उपकार नहीं होनेका। यदि उपर्युक्त किन्हीं उपायोंसे तैंने अपनेको अधिकारी बना लिया है तो रास्ता चलता गड़ेरिया भी तुझे ऊँचा उपदेश देनेके लिये पर्याप्त होगा।

× × ×

यदि अहंकार उदय होता है तो उससे मोह मत कर; बस, फिर वह तेरा कुछ भी न बिगाड़ सकेगा। कंजूस मत बन, उदार बन जा। ज्यों ही अहंकार आये, झट उसे प्रभुके पाद-पद्मोंमें समर्पित करके उससे सदाके लिये अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर ले। इस प्रकार मुक्तहस्त होनेपर फिर वह तेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता।

× × ×

तुझे सचमुच यह जगत् गोरखधंधा-सा दीखता है, तब तो पढ़! तुझे चिन्ता करनेकी कोई बात ही नहीं रह गयी। इसी भावको दृढ़ कर ले। यह भाव जहाँ दृढ़ हुआ नहीं कि फिर बेड़ा पार ही समझना।

× × ×

यदि तेरे पास भाव हैं तो पगली भाषा हाथ बाँधे तेरे सामने खड़ी रहेगी और यदि कोरी भाषा ही भाषा है, उससे चाहे भोले-भाले हिरन डरकर भले ही भाग जायँ,

किंतु चालाक बँदरीसे उस बनावटी आदमीद्वारा खेतकी रक्षा होनी असम्भव है।

× × ×

तेरे पास यदि धन है और किसीको उसकी अत्यन्त आवश्यकता है तो तू उसे निःसंकोच दे डाल; जिसने पहले तुझे दिया था, वही आगे भी देगा।

× × ×

वह यदि मानी है, मानकी इच्छा रखता है तो तू उसे सम्मान-प्रदान क्यों नहीं करता? अभिमानीसे तू बचता है, इसका अर्थ तो यही है कि तू मानका लोभी है। जो दोष तू उसे लगाता है, तुझमें भी उसका अभाव नहीं है। कंजूस सबके सामने अपने रुपयोंकी बात नहीं कहता; उसे इस बातका सदा भय बना रहता है कि 'ऐसा न हो, कोई मुझसे माँग बैठे।' यदि तू सबके सामने उदार बनना चाहता है तो मानीको सबसे अधिक सम्मान प्रदान कर। कारण, वह इसके लिये उत्सुक है।

× × ×

जो तुझसे सम्मानके इच्छुक नहीं हैं, जो तुझसे खाली प्रेमकी इच्छा रखते हैं, उनके गलेमें तू व्यर्थमें सम्मानका बोझ क्यों बाँध देता है? अरे, उन्हें छातीसे लगा, गलेभर प्रेमसे मिल, उनके साथ दो मीठी-मीठी बातें कर, एकान्तमें उनसे अपनी कथा कह। उनकी पूछ। उनके साथ शयन कर, भोजन कर। उनसे यदि तूने भेद-भाव रक्खा तो समझेंगे कि तू प्रेमका पापी है।

× × ×

चोरी करना पाप है, इसे तो चोर भी जानता है; किससे चोरी करना पाप है, इसे पोथीवाले पण्डित भी नहीं जानते। एकान्तमें स्थिर होकर मनसे पूछ, 'क्यों बे चोर! तैंने चोरी तो नहीं की।' यह ऐसा चोर है कि सामनेसे चीज उठा ले जाता है और मालूम भी नहीं होने देता। मालूम होनेपर सैकड़ों दलील पेश करता है। इसकी दलीलोंकी परख करना ही असलमें सत्यता है।

× × ×

जो तुझे सम्मानकी दृष्टिसे देखता है, एक दिन उसने ही तेरे किसी कार्यपर तुझसे घृणा प्रकट की तो उसी समय अपने मनके भावकी परख कर कि वह क्या विचार कर रहा है। यदि वह इसपर हँस रहा है तो समझ ले कि उसके अंदर जगत्का मिथ्यात्वभाव परिपक्व हो चला है। यदि तुझे उस कार्यसे खेद हो रहा है और साथ ही अपमानपर दुःख भी होता है तो समझ ले कि मिथ्यात्ववाली बात केवल तोतेके मुखसे निकले हुए 'राम-नाम'के सदृश थी।

× × ×

तू दूसरोंसे क्यों पूछता है कि 'मेरे सम्बन्धमें आपकी क्या राय है?' अपनेसे सदा ही पूछता रह—'अरे! मैं क्या कर रहा हूँ?' बस, हो गया; इसके समान परखनेवाला संसारमें दूसरा कोई नहीं है।

× × ×

कोकिला घोर जंगलमें सुमधुर स्वर क्यों बोलती है? मालतीका पुष्प अरण्यमें किसे रिझानेको खिलता है? वृक्ष सुस्वादु फल किस लालचसे देते हैं? सूखी घास खाकर भी गौएँ मीठा दुग्ध किसके भयसे देती हैं? जंगलमें मोर किसे प्रसन्न करनेको नृत्य करता है? ऐसा करना इन सबका स्वभाव ही है। इसी प्रकार सत्-पुरुष किसीको दिखानेके लिये उत्तम कार्योंका अनुष्ठान नहीं करते; उत्तम कार्य करना और सबके साथ सद्-व्यवहार करना उनका स्वाभाविक ही गुण है।

× × ×

तेरे पास यदि कोई स्वार्थ-बुद्धिसे आता है तो तू उससे घृणा मत कर। तुझसे जहाँतक हो सके, उसकी सहायता ही कर। यदि तू भी इस बातकी इच्छा रखता है कि 'कोई भी आदमी मेरे पास निःस्वार्थ भावसे आये', तब तो तू भी स्वार्थी ही हुआ। फिर तुझमें और उसमें अन्तर ही क्या है।

× × ×

आखिर तू चाहता क्या है? कीर्ति और सम्मान! इनके पानेका तैंने उपाय क्या सोच रक्खा है? दूसरोंकी निन्दा! तब तो असम्भव है। बकरीके बदले हाथी तुझे कौन देगा? यदि तू सम्मान चाहता है तो दूसरोंको तू जितना भी दे सकता है, सम्मान दे। उसके बदलेमें वे तुझे सम्मान प्रदान करेंगे और तेरी कीर्तिका प्रचार करेंगे।

× × ×

रे मन! तू विश्वासी बनना चाहता है या अविश्वासी? यदि विश्वासी बनना चाहता है तो भविष्यकी चिन्ता छोड़ दे; कारण, चिन्ता और अविश्वास पर्यायवाची शब्द ही हैं।

× × ×

तू जरा धैर्य धारण करके मेरी बातें सुन तो तुझे सब कुछ बताऊँ। अच्छा तू स्मरण कर कि आज तैंने कितने काम सोचे थे, कितने मनसूबे बाँधे थे। उनमेंसे कितने तेरे पूरे हुए? तेरी प्रबल इच्छा होनेपर भी अमुक-अमुक काम क्यों नहीं हो सके? इससे विदित होता है कि तू इच्छा करनेभरको है, कार्य तो कोई दूसरा ही कराना चाहता है, वही कराता है। जब तू परतन्त्र ही है, जब तेरे मन-चीते काम होते ही नहीं, तब व्यर्थमें आगेकी चिन्ता करनेके श्रममें क्यों पड़ता है? अपनेको सर्वतोभावेन स्वामीके चरणोंमें समर्पण क्यों नहीं कर देता?

× × ×

जब कोई तेरी झूठी बुराई करे, तब तू खुश हो; कारण, बुराई करनेवाला तुझे बड़ा समझता है और स्वयं अपनेको निर्बल। निर्बल मनुष्य जब सबल मनुष्यका कुछ बिगाड़ नहीं सकता और बहुत खोजनेपर भी उसमें कोई बुराई नहीं पाता, तब विवश होकर झूठी ही बुराई करनेपर उतारू हो जाता है।

× × ×

जाड़ेकी औषध अग्नि है। भूखकी औषध भोजन।
पिपासाकी औषध पय है।
उष्णताकी औषध शीतलता है।
क्रोधकी औषध विचार है।
अहंकारकी औषध अपमान है।
कामकी औषध विषयोंमें दोष-दृष्टि है।
लोभकी औषध दान है।

× × ×

संसारके प्रत्येक पदार्थपर छाप लगी हुई है। जिस वस्तुपर जिसकी छाप लगी होगी, वह उसे अवश्य ही प्राप्त होगी और जिसपर दूसरेकी छाप है, वह लाख प्रयत्न करनेपर भी उसे नहीं मिल सकती। फिर व्यर्थ ही चिन्ता क्यों करता है! तेरे सामने जो वस्तु आवे, उसके सम्बन्धमें उसी समय सोच ले कि न जाने इसपर किसकी छाप है।

× × ×

भजन किसे कहते हैं? सत्यके अनुसंधानको।
सत्यका क्या स्वरूप है? जिसमें भयका लेश भी न हो।
भय क्यों होता है? अविश्वाससे।
अविश्वासकी उत्पत्ति कैसे होती है? प्रेमके अभावमें।
प्रेम कब हो सकता है? जब द्वैधीभाव मिट जाय।
द्वैधीभाव मिटनेपर क्या होता है?
त्याग करनेकी शक्ति उत्पन्न होती है।
त्यागका परिणाम क्या है? शान्ति।
शान्तिके सरल और संक्षिप्त उपाय क्या हैं?
प्रेम, त्याग, विश्वास और अद्वैत-भावना।

× × ×

ग्राह्य क्या है? चार वस्तु ग्राह्य हैं।
कौन-कौन-सी? श्रद्धा, शील, सहानुभूति और सत्य।
त्याज्य क्या है? चार वस्तु त्याज्य हैं।
कौन-कौन-सी?
पद, प्रतिष्ठा, पैसा और सांसारिक सुखोंकी इच्छा।
'यति' किसे कहते हैं? संयम जिसके सदा साथ रहता हो।
यतियोंके लिये अत्यन्त त्याज्य वस्तु क्या है?
विषय-वासनाओंका चिन्तन।
जीवनका चरम लक्ष्य क्या है?
प्रभुके पादपद्मोंका निरन्तर सेवन।
प्रभुके पास पहुँचनेका एकमात्र उपाय क्या है?
सरलता और सत्य-सेवन।
जीवनमें सरलता किस प्रकार आ सकती है?
सत्-असत्के विवेकसे।
'सत्' क्या है और 'असत्' किसे कहते हैं?
जो अक्षर है, वही 'सत्' है और जो क्षर है, वह 'असत्'।
क्षर-अक्षरकी कसौटी क्या है?
जिसके नाशकी कल्पना हो सके, वह 'क्षर' और जिसके नाशकी कल्पना भी न हो सके, वही 'अक्षर' है।
संसारके यावत् पदार्थ हैं, सभी तो नाशवान् हैं।
इसीलिये सभी असत् हैं।
फिर 'सत्' क्या रहा?
जो इन सबके बाद शेष रहा, वही तो 'सत्' है।
संसारके बाद तो कुछ भी शेष नहीं रहता!
बस, जिसे 'कुछ भी नहीं' कहते हो, वही 'सत्' है।

श्रद्धा विश्वमिदं जगत्

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीअनिरुद्धाचार्य वेंकटाचार्यजी महाराज)

विश्व-शासनरूप वेदके आधारपर मिताक्षरोंमें श्रद्धा-तत्त्व-की मीमांसा की जाती है। 'श्रद्धा' शब्द देववाणी (संस्कृत) का है। संस्कृत भाषामें विश्वगत अन्य साधारण प्राकृत भाषाओंकी अपेक्षा यह विशेषता है कि वह अपने शब्दोंमें अर्थोंको सदा संनिहित रखती है—अर्थात् उसके शब्द और शब्दार्थ दोनों सदा सहचरित हैं; दूसरे शब्दोंमें उन दोनोंका नित्य-सम्बन्ध है। वह पश्चात् कल्पित नहीं है। अतः संस्कृत भाषाके शब्दोंके गहनतम अर्थोंको भी उनके निर्वचनोंद्वारा प्राप्त किया जा सकता है। संस्कृत भाषाको छोड़कर विश्वकी अन्य प्राकृत भाषाओंमें निर्वचन-प्रक्रिया और उसके द्वारा अर्थोंका ग्रहण—इसपर इतना बल नहीं दिया गया है। संस्कृतमें इसके लिये एक विद्या-प्रस्थान ही स्वतन्त्र है, जिसका नाम 'निरुक्त विद्या' है।

'श्रद्धा' शब्दका निर्वचन दिया गया।

'श्रद्धा' शब्दके निर्वचन निरुक्त और वैदिक संहिताओंमें उपलब्ध हैं। इनमेंसे निरुक्तमें 'श्रद्धा' शब्दका भगवान् यास्कने 'श्रत्-धानात् श्रद्धा'—यह निर्वचन किया है। कृष्ण-यजुर्वेदकी कठ शाखामें 'श्रत् धत्ते इति श्रद्धा' निर्वचन किया गया है। दोनों निर्वचनोंके अर्थोंमें भेद है। अर्थ-भेदके होनेपर भी दोनों निर्वचन 'श्रत्' और 'धा'—इन दो शब्दोंसे निष्पन्न हैं।

अर्थ-भेद

नैरुक्तोंके मतमें 'श्रद्धा' शब्दका अङ्गभूत 'श्रत्' शब्द सत्यरूप अर्थका वाचक है, कारण कि वैदिक निघण्टु (३ । १०) में संगृहीत सत्यके वाचक 'वट्', 'श्रत्', 'सत्रा', 'अद्धा', 'इत्था', 'ऋतम्'—इन नामोंमें एक नाम 'श्रत्' भी है। 'धा' धातु आधानका वाचक है। अतः 'श्रद्धा' शब्दका नैरुक्तोंके मतसे यह अर्थ हुआ कि "जो तत्त्व श्रद्धाताके मनका श्रद्धेय पदार्थोंमें विद्यमान सत्यके साथ आसञ्जन कर देता है, वह 'श्रद्धा' है।" श्रद्धेय पदार्थ सत्य—अमृतमय हैं। उनमें विद्यमान सत्यभागसे जो श्रद्धालु मनका संश्लेष कर दे, वह 'श्रद्धा' है।

'कठ' शाखामें 'श्रत्' शब्द जलमें प्रविष्ट पार्थिव-आग्नेय प्राणका वाचक है, जिसका 'पवमान' भी नामान्तर है। 'धा' धातु धारणरूप अर्थका बोधक है। अतः वेदके अनुसार "जो तत्त्व 'श्रत्' नामक अग्निको धारण करे, वह 'श्रद्धा' है।" यह अग्नि सौम्य होनेसे आसञ्जनधर्मा है। इसके माध्यमसे श्रद्धाताको आत्मा अथवा मनका श्रद्धास्पदके साथ आसञ्जन (ग्रन्थि-बन्धन) हो जाता है।

'जैमिनीय ब्राह्मण'में—'श्रद्धा' को सूर्यकी छः प्रकार-की कलाओंमें एक कला माना है, जो प्रतिक्षण सूर्य-से विश्कलित होकर पदार्थोंमें प्रविष्ट होती रहती है। इस सौरकलाका कार्य भी एक पदार्थका अन्य पदार्थके साथ ग्रन्थि-बन्धन कर देना है। अतः 'जैमिनीय ब्राह्मण' के मतानुसार "जो सौरकला श्रद्धालुकी आत्मा अथवा मनके साथ श्रद्धेयके गुणोंका ग्रन्थि-बन्धन कर दे, वह 'श्रद्धा' है।" कारण, यह कला सौम्या है। सोम स्नेहधर्मा है। स्नेह आसञ्जन (आसक्ति) करता है। 'किं बहुना' श्रद्धासे श्रद्धाताकी आत्माके साथ श्रद्धेयके गुणोंका ग्रन्थि-बन्धन हो जाता है।

श्रद्धाका स्वरूप

इस प्रकार वेदकी शाखाओं एवं नैरुक्तोंके मतानुसार श्रद्धाके दो-तीन लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं। अब वह 'श्रत्-आधाता' श्रद्धा-तत्त्व कौन है, इसका निर्णय वेदके आधारपर किया जाता है। श्रद्धा-तत्त्वके स्वरूपका वर्णन करते हुए 'ऐतरेय ब्राह्मण' का कथन है—'आपो वै श्रद्धा' अर्थात् जलतत्त्व 'श्रद्धा' है।' यहाँ 'आपः' शब्दसे स्थूल भौतिक जलका ग्रहण नहीं है, अपितु सूक्ष्म जलका ग्रहण है। अतः आकाशमें परिव्याप्त सूक्ष्म चान्द्रजल 'श्रत्' (अग्नि अथवा सत्य) को धारण करनेके कारण 'श्रद्धा' कहा जाता है। यह श्रद्धारूप जल इस विश्व-प्रपञ्चके दो मूल कारणोंमें अन्यतम उपादान (मूल) कारण भी है; अतः 'तैत्तिरीय ब्राह्मण'में कहा गया है—'श्रद्धा विश्वमिदं जगत्' अर्थात् श्रद्धा-तत्त्व ही इस विश्वके आकारमें परिणत हो गया है।' दूसरे शब्दोंमें तेज और स्नेह—ये दो तत्त्व विश्वके उपादान (मूल) कारण हैं। इनमें तेज अग्नि है। स्नेह सोम है। यह सोम-तत्त्व ही 'श्रद्धा' है।

चार प्रकारके जल

'आपो वै श्रद्धा' इस वैदिक वचनके अनुसार अप्-तत्त्व (जलतत्त्व) 'श्रद्धा' है। वह अप्-तत्त्व 'अम्भः', 'मरीचि', 'मर' और 'आपः' भेदसे वेदोंमें चार प्रकारका माना गया है। इनमें सूर्यके ऊपरका जल 'अम्भः' है। यह अम्भः-नामक जल ही गङ्गाजल है। सौर रश्मियोंके संघर्षसे उत्पन्न और रश्मिस्थ अग्निधर्मा जल 'मरीचि' है। यही यमुनाजल है। अतएव 'यमुना' सूर्यकन्या है। पार्थिव मूर्च्छित अप्-तत्त्व 'मर' है। इसकी मूर्च्छनाका नितरां विकास मरुदेशमें है। चान्द्र—सौम्य अप्-तत्त्व 'आपः' है। यही 'श्रद्धा' है।

अध्यात्म-संस्थामें चार प्रकारके जल

हमारी अध्यात्म (शारीरिक) संस्थामें भी इन चार प्रकारके सूक्ष्म और दिव्य जलोंकी स्थिति है। इनमें प्राणतत्त्वके साथ 'अम्भः' जलका अर्थात् गङ्गाजलका सम्बन्ध है। बुद्धितत्त्वके साथ 'मरीचि' जलका, अर्थात् यमुना-जलका सम्बन्ध है। शरीरसे पार्थिव 'मर' जलका सम्बन्ध है और मनसे चान्द्र जलरूप श्रद्धाका सम्बन्ध है। अतः जिस प्राणीके मनमें चान्द्ररस (श्रद्धा) का जितना अधिक विकास होता है, वह प्राणी उतना ही श्रद्धालु होता है। अथर्ववेदमें श्रद्धालु प्राणीको सुभग और अश्रद्धालुको 'दुर्भग' कहा गया है। प्राणीमें अश्रद्धा-भावका कारण चान्द्ररसका मनमें विकास न होना ही है।

मनमें श्रद्धा-तत्त्वका अवतार

मनमें श्रद्धा-तत्त्वकी संक्रान्ति और प्रतिष्ठाके प्रकारका निर्देश वेदोंमें इस प्रकार है—'चन्द्र' सोमसे अन्न उत्पन्न होता है। अन्नसे मन उत्पन्न होता है। चन्द्रमा श्रद्धा-तत्त्वसे घन है। इससे उत्पन्न अन्न भी श्रद्धा-तत्त्वमय है। अतः अन्नसे उत्पन्न मन भी श्रद्धा-मय है। अर्थात् मनमें श्रद्धा प्रतिष्ठित है। मन विषयोंके साथ सम्बद्ध हो जाता है, इसका एकमात्र कारण श्रद्धातत्त्व ही है। कितने ही अन्न दिव्यभावापन्न हैं, कितने ही आसुर-भावापन्न हैं। श्रद्धा-रस अपने स्वरूपसे शुद्ध होता हुआ भी अन्न-संसर्गसे तद्भावापन्न हो जाता है। अतः पूर्वजन्मके संस्कार, इस जन्मका संसर्ग, अन्न-सम्बन्ध, शिक्षा, देश और काल आदिकी परिस्थिति आदि भाव श्रद्धाके स्वरूपके सम्पादक हैं।

श्रद्धाके दो भेद

श्रद्धा चान्द्र-जलरूपा है। चन्द्रमा प्रकाश और अन्धकार दोनोंसे युक्त है। प्रकाशयुक्त चन्द्रमा 'चन्द्र' है। अन्धकार-आवृत चन्द्रमा 'वृत्र' है। प्रकाशयुक्त चान्द्र-जल दिव्य जल है। अन्धकारयुक्त चान्द्रजल कृष्णजल है। जिसके मनमें प्रकाशमय दिव्य जलोंका प्राकट्य है, उसके मनका ग्रन्थि-बन्धन दिव्यशक्तियोंके साथ हो जाता है। कारण, उसकी श्रद्धा प्रकाशमयी है। जिसके मनमें वृत्रमय (अन्धकारमय) जलोंका प्राकट्य है, उसके मनका ग्रन्थि-बन्धन अदिव्य शक्तियोंके साथ हो जाता है। कारण, उसका श्रद्धातत्त्व तमोमय है। यह अन्धश्रद्धा है। तमोमय अन्धश्रद्धा ही 'अश्रद्धा' है।

श्रद्धा और अश्रद्धाके विषयमें अथर्ववेदके 'श्रद्धासूक्त' में गहन विवेचन है। इन दोनोंके विषयमें अथर्व-संहिताका कथन है—'अश्रद्धामनृतेऽधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः' अर्थात् 'मनरूप प्रजापतिने अश्रद्धासे आत्माका अनृत भावोंमें आधान किया और श्रद्धासे सत्य भावोंमें।' तमोभावापन्न श्रद्धा-रस 'अश्रद्धा' है। अश्रद्धा ही अन्धश्रद्धा है। श्रद्धा एक प्रकारका रस है। वह जब अन्धकारसे युक्त हो जाता है, तब 'अश्रद्धा' अथवा 'अन्धश्रद्धा' कहलाता है। आसुर भावापन्न आगम (शास्त्र), जल, शिक्षा, पूर्वजन्मके संस्कार, इस जन्मका संसर्ग आदिसे सम्पृक्त श्रद्धारस ही अन्धश्रद्धा है। मनमें विकसित अन्धश्रद्धा अनृतभावमें आसञ्जन करती है, अर्थात् अनृतभाव-प्रधान, शास्त्र-विरुद्ध सुरा, अप्सरा, नृत्य और गान आदिमें मनका संश्लेष कराती है। इसके विपरीत श्रद्धा सत्य-भाव, सदाचार, दान, संयम, यम, नियम, व्रत, परोपकार और मर्यादा आदिमें मनका संश्लेष कराती है।

श्रद्धा और स्त्री

मानवोंकी अपेक्षा मानवियोंमें श्रद्धा-तत्त्वका विकास अतिमात्रामें है। इसका कारण यह है कि मानवका निर्माण अग्निसे होता है, अतः वह आग्नेय है, स्थिर है। मानवीका निर्माण प्रकृतिने सोमतत्त्वसे किया है, अतः वह सौम्या है, अस्थिरा है। किसी भी वस्तुमें आसञ्जनके लिये अध्यात्ममें श्रद्धाके उद्रेककी आवश्यकता है। 'आपो वै श्रद्धा' के अनुसार श्रद्धा अप्-तत्त्वरूपा है, जलतत्त्वरूपा है। 'आपो द्रवाः-स्निग्धाश्च'—इस कणाद-सिद्धान्तके अनुसार जल-तत्त्वका

प्रवाहित और स्निग्ध होना स्वाभाविक है। मानवी सौम्या है—अर्थात् जल-तत्त्वसे उसका निर्माण होता है। अतः प्रकृति-साम्यके कारण उसमें अतितरां विकास होना निसर्ग-सिद्ध है। इसलिये उनका प्रवाहित होना और वस्त्वन्तरमें आसक्त हो जाना प्रकृति-सिद्ध है।

श्रद्धा और दोषोंका अदर्शन

श्रद्धाके विना किसी भी वस्तु अथवा भावका आत्मासे सम्बन्ध नहीं हो सकता। श्रद्धाके द्वारा उस वस्तु अथवा भावका आत्मासे सम्बन्ध हो जाता है। यद्विषयणी श्रद्धा होगी, मन उस विषयसे भावनाके द्वारा सम्बन्ध जोड़ लेता है।

श्रद्धालु मानव श्रद्धेयमें कभी दोषान्वेषण नहीं कर सकता; कारण, श्रद्धास्पदमें विद्यमान दोषोंके प्रति उसकी दृष्टि ही नहीं जाती। यदि कदाचित् दोष दृष्टिगत हुए भी तो उनको वह गुणरूपमें परिणत कर लेता है। श्रद्धाके इस निसर्गके कारण ही आध्यात्मिक तत्त्वचिन्तकोंने 'दोषदर्शनानुकूलवृत्तिप्रतिबन्धकधारणं श्रद्धा ।'—यह लक्षण किया है। इस परिस्थितिमें इस श्रद्धा (अन्धश्रद्धा) देवीकी कृपासे शास्त्रविरुद्ध कार्य उपादेय एवं अभ्युदय-प्रवर्तक कार्य उन अन्धश्रद्धालुओंकी दृष्टिमें बाधक बन रहे हैं। अतः श्रद्धाके साथ सदैव तर्करूप प्रकाशकी आवश्यकता शास्त्रमें बतायी गयी है।

श्रद्धाके भेद

अथर्ववेदमें विद्यमान 'श्रद्धासूक्त'के आधारपर श्रद्धाके 'श्रद्धा' और 'अश्रद्धा'—इन दो भेदोंका वर्णन ऊपर किया गया। परंतु सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणोंके भेदसे श्रद्धाके तीन भेद भी शास्त्रोंमें उपलब्ध होते हैं। यह पुनः-पुनः कहा जा चुका है कि श्रद्धा एक प्रकारका चान्द्ररस है। सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण सर्वत्र व्याप्त हैं। किसी भी पदार्थमें ये तीनों न रहें, यह असम्भव है। इन तीनोंके सम्पर्कसे श्रद्धाके भी तीन विभाग हो जाते हैं। इनमें सात्त्विकी (प्रकाशमयी) श्रद्धा अध्यात्म-संस्थाके अभ्युदय और निःश्रेयससे सम्बन्ध रखती है, राजसी श्रद्धा लौकिक व्यवहारोंकी प्रतिष्ठा बनती है और तामसी (अन्धश्रद्धा) असद्वृत्तिरूपा अश्रद्धाके साथ युक्त होकर सर्वनाशका कारण बनती है। अश्रद्धाका स्वरूप असद्वृत्ति है। अर्थात् असद्वृत्ति ही अश्रद्धा है।

अश्रद्धाके तीन दोष

अन्धश्रद्धारूपा अश्रद्धाके दक्षदोष, धृतिदोष और स्वप्नदोष नामक तीन पुत्र हैं। अर्थात् अन्धश्रद्धारूप अश्रद्धासे मानव अथवा मानवीमें इन दोषोंका संक्रमण हो जाता है। इनमें दक्षप्राणमूलक तमोमय प्राकृतिक दोष 'दक्षदोष' है। धृतिप्राणमूलक रजस्तमोमय आगन्तुक दोष 'धृतिदोष' है और स्वप्नप्राणमूलक रजोगुणमय तात्कालिक दोष 'स्वप्नदोष' है।

दक्षदोष

कितने ही व्यक्ति जन्मसे ही दोष देखने और पर-निन्दा-प्रवृत्तिके आचार्यपदपर विराजमान रहते हैं। उन्हें परदोषान्वेषणसे लाभ अथवा हानि न दीखनेपर भी उनका यह स्वभाव होता है। यही स्वाभाविक दोष 'दक्षदोष' है। इस दोषका दक्षप्रजापतिमें नितरां विकास था, जिसका वर्णन श्रीमद्भागवतके चतुर्थस्कन्धमें किया गया है। गन्धर्वराज पुष्पदन्ताचार्यरचित शिवमहिम्नःस्तोत्रके 'क्रिया-दक्षो दक्षः' वाक्यमें इसी दक्षदोष और उसके प्रियपात्र दक्षका निर्देश है।

धृतिदोष

कितने ही मानव स्वभावतः सरल होते हैं। पर इनके पार्श्ववर्ती महानुभाव निरन्तर इनपर दोष-मीमांसाका प्रभाव डाला करते हैं। कालान्तरमें इस सङ्गवृत्तिसे उनमें भी दोषदर्शन-वृत्ति उद्बुद्ध हो जाती है। यही आगन्तुक संसर्ग-दोषजनित दोष 'धृतिदोष' है।

स्वप्नदोष

कतिपय व्यक्ति अज्ञानके कारण परिस्थितिका परिज्ञान न होनेसे कुछ-का-कुछ समझकर दोष-दर्शनके अनुगामी बन जाते हैं। प्रज्ञापराधमूलक यही दोष 'स्वप्नदोष' है।

इन तीनों दोषोंमेंसे एक भी दोषवृत्तिके आ जानेसे मानवका मन दोषदर्शनानुकूल वृत्तिका उपासक बन जाता है। अतः जो सात्त्विकी वृत्ति इस दोषदर्शनानुकूल वृत्तिको रोककर मानवमनको गुणदर्शनकी ओर प्रवृत्त करे, वह 'श्रद्धा' है। यह अध्यात्ममें मनका वृत्ति-विशेष है। मन-में इस वृत्तिका उदय भी आधिदैविक श्रद्धा-रसके विकास-से ही होता है। जब इस वृत्तिका मनमें विकास हो जाता है, तब जिस श्रद्धेयके साथ इसका अन्तर्याम-सम्बन्ध हो जाता है, उस श्रद्धेयके दोषोंपर श्रद्धालुकी दृष्टि नहीं जाती।

यदि जाती है तो उसके दोष भी गुणरूपेण प्रतीत होने लगते हैं। 'श्रद्धा वा आपः'के आधारपर ऊपर श्रद्धाको 'चान्द्ररस' कहा गया है। अनुपद में प्रस्तुत 'श्रद्धा'के लक्षण-में मानवके मनमें श्रद्धातत्त्वके रहनेपर उत्पन्न सद्वृत्तिको भी 'श्रद्धा' कहा गया है। केवल मानसिक सद्वृत्तिरूपा ही श्रद्धा है, यह मानना अज्ञान है। कारण, श्रद्धा एक प्रकारका तत्त्व है, जो विश्वके दो मूल कारणोंमें अन्यतम कारण है। मानव-मनमें इसके विकाससे ही सद्वृत्तिरूपा श्रद्धाकी उत्पत्ति होती है। अतः सद्वृत्ति भी श्रद्धा है; किंतु सद्वृत्ति ही श्रद्धा है, यह मत अशुद्ध है। इसके माननेपर 'श्रद्धा विश्वमिदं जगत्' के सम्बन्धमें क्या कहा जायगा।

दर्शनोंमें श्रद्धा

दर्शनशास्त्रोंमें भी श्रद्धाविषयक गहन गम्भीर चर्चा है। श्रद्धाके कतिपय दार्शनिक लक्षण यहाँ दिये जाते हैं। 'योगदर्शनकी व्याख्यामें श्रद्धाका लक्षण यह किया गया है— 'श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः' अर्थात् चित्तकी निर्मलता 'श्रद्धा' है। 'श्रद्धा वा आपः'—इस वैदिक श्रद्धाके स्वरूपके साथ इस यौगिक श्रद्धाके स्वरूपका दर्शन करें तो श्रद्धाका लक्षण यह होगा कि मनमें विद्यमान प्रकाशमय दिव्यजल 'श्रद्धा' है। दूसरे शब्दोंमें, प्रसन्न मन 'श्रद्धा' है। 'योगदर्शन'के मतमें श्रद्धा श्रद्धालुकी मातृवत् कल्याण-कामिनी होकर रक्षा करती है। बौद्ध विद्वान् वसुबन्धुने 'अभिधम्मकोश'में श्रद्धाका लक्षण 'चित्तविशुद्धिः श्रद्धा'—यह किया है। श्रद्धाका यह लक्षण 'योगदर्शन'में उपलब्ध श्रद्धाके लक्षणसे सङ्गतार्थ है। अतः परम्परया यह लक्षण भी श्रद्धाके वैदिक लक्षणका अनुवादमात्र है। 'स्याद्वाद' दर्शनके 'तत्त्वार्थ-सूत्र'में श्रद्धाका लक्षण 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यक्-दर्शनम् (१।२)—यह किया गया है। सम्यक्-दर्शन एक प्रकारका प्रकाश है। अर्थात् उद्दीप्त प्रकाश श्रद्धा है। श्रद्धाका यह श्रामण लक्षण भी 'चन्द्रांशवः श्रद्धा' इस वैदिक लक्षणका ही अनुवादमात्र है। 'तत्त्वार्थ-सूत्र'की व्याख्यामें उमास्वामिकृत श्रद्धाकी व्यापकताका यह यशोगान अथर्ववेदमें उपलब्ध 'श्रद्धा विश्वमिदं जगत्'—इस मन्त्रकी छायामात्र है। चार्वाक-दर्शनका श्रद्धाके विषयमें आवेदन है कि "तर्कालोकसे आलोकित श्रद्धा-रस, 'श्रद्धा' है।" वह सम्पूर्ण सौभाग्य और अभ्युदयोंकी जननी है; परंतु तर्कालोकसे वञ्चित श्रद्धा 'अन्धश्रद्धा' है, जो सब दुर्भाग्यों और विनाशोंकी जननी है। मानव इसीकी उपासनामें अधिक संलग्न हो जाता है और ऐसे आन्ध्य-बहुल मतोंका आविष्कार करता है, जो चिरकालतक विश्वके लिये अभिशाप बने रहते हैं। अतः इस पथपर चलना पाप है।

आगमोंमें श्रद्धा

आगमोंमें भी श्रद्धातत्त्वका तलस्पर्शी विवेचन उपलब्ध होता है। कृष्णयजुर्वेदके सत्याषाढ़-श्रौतसूत्रका श्रद्धाके विषयमें निर्णय है कि "अभितः प्रसरणशील चान्द्ररश्मियों-में स्थित आसञ्जनधर्मा पवित्र जल 'श्रद्धा' है।" अध्यात्ममें मन ही चन्द्रमा है। अतः मनःस्थित जलको भी 'श्रद्धा' माना गया है। साहित्यशास्त्रका श्रद्धाके विषयमें निर्णय है कि "मनरूपी पात्रमें चान्द्रजल है। यही प्रेम-पदार्थ है। इसका ईश्वर, देवता, गुरु आदिके प्रति प्रवाहित होना 'श्रद्धा' है।" चन्द्रमाकी रश्मियोंमें विद्यमान सूक्ष्म सौम्य जल 'श्रद्धा' है। इसका अध्यात्ममें—मनमें विकास होता है; अतः पाञ्चरात्रकी पौष्करसंहिताका आवेदन है—'मनः श्रद्धा' अर्थात् 'मन ही श्रद्धा है।'

पुराणोंमें श्रद्धा

पुराण-ग्रन्थोंमें भी श्रद्धाकी विपुल चर्चा है। इनमें लिङ्ग-पुराणका श्रद्धाके विषयमें आवेदन है—'अव्यक्तं श्रद्धा' अर्थात् 'प्रकृति श्रद्धा है।' श्रद्धाका यह लक्षण आधिदैविक श्रद्धाका है। यह लक्षण 'श्रद्धा विश्वमिदं जगत्'—इस वैदिक मन्त्रके आधारपर किया गया है। अधिदैवतमें पुरुष-प्राण मनु है। स्त्री-प्राण मानवी है। अध्यात्ममें मन ही मनु है। इसका वृत्तिविशेष मानवी है। यही श्रद्धा है। इसका विशेष विवेचन अनुपदमें ही होगा। मानसवृत्ति-विशेष मानवीरूप श्रद्धा 'इदमित्थमेव' इस प्रकारसे अभिलाप किया जाता है। यही अध्यात्ममें श्रद्धा है। 'अखण्डादर्श' नामक ग्रन्थका कथन है कि 'श्रद्धा एक प्रकारकी सौम्य अग्नि है। इसका वर्ण (रंग) गोक्षीरवत् है। इसका प्राकट्य अध्यात्ममें मनमें होता है। इसके माध्यमसे सूक्ष्म पदार्थोंके साथ श्रद्धालुके मनका आसञ्जन होता है। श्रद्धारूपी प्रकाश अतीन्द्रिय सूक्ष्म पदार्थोंके अवलोकनका साधन है।'

वेदज्ञोंके मत

श्रद्धाके विषयमें अनेक वेदज्ञ विद्वानोंने भी अनेक मतभेदोंके साथ इसकी चर्चा की है। इनमें वेदार्णवके पारदृश्वा,

वेदज्ञोंमें मूर्धन्य श्रीमधुसूदनजी ओझा महोदयका, मैत्रायणी शाखामें उपलब्ध 'आपो वै श्रद्धा'—इस वचनके आधारपर 'अभिख्याति' नामक ग्रन्थमें कहना है कि—'सर्वजगदुपादानभूताः सूक्ष्माः काश्चिदापः श्रद्धा इत्युच्यन्ते।' अर्थात् "सब जगत्के उपादानभूत सूक्ष्म जल 'श्रद्धा' शब्दसे परिभाषित हैं।" वेदके आधारपर उनका कहना है कि 'शुष्क' और 'आर्द्र'भेदसे विश्वके उपादान (मूल) दो तत्त्व हैं। इनमें आर्द्रतत्त्व सोम है। यह तत्त्व स्नेह-गुणक है। स्निग्ध पदार्थ सूत्रवत् तत हो जाता है। स्नेहगुण दूसरे पदार्थोंके साथ चिपक जाता है। अतः स्नेह-प्रधान आसाञ्जनभावके सूत्रको ही 'श्रद्धा' कहते हैं। ये श्रद्धा नामके जल प्राणरूपमें रहते हैं। इस श्रद्धामय प्राणसूत्रको 'अथर्वा' भी कहते हैं। इस प्राणसूत्रसे सम्बद्ध होनेके कारण ही पितृकर्म 'श्राद्ध' शब्दसे अभिहित होता है।

श्रद्धा और श्राद्ध

इस श्रद्धासूत्रद्वारा निर्मित क्रियाको ही 'श्राद्ध' कहते हैं। वेदज्ञोंने श्राद्ध-शब्दका निर्वचन इस प्रकार किया है। 'श्रद्धया—श्रद्धासूत्रेण क्रियते निष्पाद्यते इति श्राद्धम्।' यह श्रद्धासूत्र सात पिण्डों (शरीरों) तक व्याप्त रहता है। तदनन्तर यह क्षीण हो जाता है। सूतक और मृतक आशौच इस श्रद्धासूत्रके द्वारा ही सपिण्डोंमें संक्रान्त होता है।

मनुकी पत्नी श्रद्धा

'आधिदैविक मनु', 'आध्यात्मिक मनु' और 'आधिभौतिक मनु' तथा 'पुरुषविध मनु' भेदसे मनु तीन-चार प्रकारके हैं। इनमें आध्यात्मिक मनु मन है। इस मनरूप मनुकी आध्यात्मिक श्रद्धा पत्नी है। सब स्थलोंमें श्रद्धाके समन्वयसे ही मनुद्वारा सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि होती है। मनु वृषा (पुरुष)-प्राण है। श्रद्धा (मनावी) योषा (स्त्री)-प्राण है। इन दोनोंके मिथुनभावसे ही सम्पूर्ण सृष्टि होती है।

श्रद्धाका पुत्र काम

'श्रद्धा काममसूयत'—इस पौराणिक वचनके अनुसार काम (कामना) श्रद्धाका पुत्र है। भावसृष्टि, गुणसृष्टि और द्रव्यसृष्टि—इन तीनों सृष्टियोंमें कोई भी सृष्टि विना मिथुनके नहीं होती, अतः कामनाकी सृष्टि भी मनरूपी मनु अपनी सौम्याशक्ति मनावी (श्रद्धा)-के मिथुनभावसे ही करते हैं। अतः कामनाओं (संकल्पों) के मनु पिता और मनावी (श्रद्धा) माता मानी गयी है। इस बातको पुराणोंकी भाषामें 'श्रद्धा काममसूयत'से प्रकट किया गया है।

श्रद्धादेव मनु

मनु श्रद्धाके अधिष्ठाता हैं—श्रद्धाके देवता हैं, श्रद्धाके पति हैं। अतः इनको शतपथमें 'श्रद्धा देव' नामसे अभिहित किया गया है। वेदका यह श्रद्धादेव मनु ही पुराणोंमें श्राद्धदेव मनु हो गया है।

श्रद्धाके पिता मनु

पदार्थ-विद्यामें पति, पत्नी, दुहिता, पुत्र और पिता आदि भावोंमें सांकर्य है। पुरुष ही प्रकृतिकी आधारभूमि अर्थात् उत्पत्ति-स्थान है। दूसरे शब्दोंमें प्रकृतिरूपा शक्तिका विकास पुरुषके आधारसे ही होता है। सौर मनु पुरुष (प्राण) अपने ही भागसे श्रद्धाका विकास करता है। अतः शतपथका वचन है 'श्रद्धा वै सूर्यस्य दुहिता' अर्थात् श्रद्धा सूर्य (सौर मनु)-की दुहिता है। उसके साथ मिथुनभावको प्राप्त करता हुआ सौर मनु सृष्टि भी करता है। अतः श्रद्धा मनु (सूर्य)-की पत्नी भी है। सौरमण्डलमें तेजोरूपसे विकसित सौम्यरूप सर्वजगत्का प्रवर्तक यह श्रद्धा-तत्त्व ही मनुपत्नी 'मनावी' है।

श्रद्धा-भावकी जागृति

अध्यात्ममें हमारा मन सोम (चन्द्र)-से उत्पन्न होता है, अतः मन सोममय है। आकाशमें व्याप्त तरल सोम ही श्रद्धा है। जबतक मनमें श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती, तबतक किसी भी कार्यमें प्रवृत्ति नहीं होती। पुरुषका मन भी श्रद्धामय है। 'आपो वै श्रद्धा' के अनुसार जल भी श्रद्धामय है। कार्यके आरम्भमें यदि जलसे सम्बन्ध हो जाता है तो पुरुषमें श्रद्धाभाव जाग्रत् हो जाता है। जाग्रत् श्रद्धासूत्रसे मनुष्यके मन, प्राण और वाक्—इन तीनोंका दिव्य प्राण-देवताओंके साथ सम्बन्ध हो जाता है। वह भी देवोंमें अल्पतम देव बन जाता है। यजमानके दिव्य आत्माके साथ भी देवों और मनुष्योंकी आत्माका ग्रन्थि-बन्धन हो जाता है। इस रहस्यका आवेदन ही 'ऐतरेय ब्राह्मण' में 'आपो ह्यस्मै श्रद्धां संनयन्ते पुण्याय कर्मणे' इस रूपमें किया गया है। अर्थात् 'आचमनरूप जल इस यजमानके मनमें प्रतिष्ठित श्रद्धातत्त्वको उद्दीप्त करता है, जिससे इसका पुण्यकर्मके साथ ग्रन्थि-बन्धन हो जाता

है।' किसी भी शुभानुष्ठानके आरम्भमें आचमन करनेका भी यही रहस्य है।

किसी भी कारणसे इस श्रद्धा-तत्त्वके अभिभूत होनेपर मानव बल-उत्साह-रहित होकर अकर्मण्य बन जाता है। रुग्णावस्थामें राजस्थानके निवासी आज भी यह अभिलाप करते हैं कि 'आज मेरी श्रद्धा नहीं है।' अर्थात् मैं आज श्रद्धातत्त्वके अभिभूत हो जानेपर किसी भी कार्यके सम्पादनमें असमर्थ हूँ—अकर्मण्य हूँ।

श्रद्धाके तीन विवर्त

प्रकृति-विवेचनका फलितार्थ यही है कि इस श्रद्धा-तत्त्वके—'आधिदैविक श्रद्धा', 'आध्यात्मिक श्रद्धा' और 'आधिभौतिक श्रद्धा'—भेदसे तीन विवर्त (रूप) हैं। इनमें आकाशमें व्याप्त तरल चान्द्रजल आधिदैविक श्रद्धा है। मनमें विद्यमान चान्द्रजल आध्यात्मिक श्रद्धा है। मनमें इसके विकाससे एक मानस भाव उत्पन्न होता है, जिसका स्वरूप शास्त्रकारोंने 'दोषदर्शनाद्यनुकूलवृत्तिप्रतिबन्धक-धारणं श्रद्धा' यह बताया है। यह भाव भी श्रद्धा है। इसके उदित होनेपर शास्त्र-गुरु आदिके वचनोंमें 'सत्य-मिदम्' आदि मानस भाव उत्पन्न होते हैं। ये श्रद्धाके शाब्दरूप हैं। पदार्थमात्रमें विद्यमान आसञ्जनधर्मा स्नेह आधिभौतिक श्रद्धा है। इसके सहयोगसे ही विश्वमें धातु, उपधातु, पुष्प, फल, पराग और रत्न आदिकी उत्पत्ति होती है। अकर्मण्यताकी नाशिका और कर्मण्यताकी उद्भाविका इस श्रद्धासे हम अथर्ववेदके 'श्रद्धासूक्त' में प्रयुक्त 'श्रद्धे श्रद्धाय येह नः' प्रार्थना करते हैं। अर्थात् 'हे श्रद्धे देवि! आपके अनुग्रहसे हम कर्मण्य बने रहें।'

मानवके लिये सबसे बड़ा खतरा

(लेखक—पं० श्रीगङ्गाशंकरजी 'मिश्र', एम्० ए०)

मानवके लिये सबसे बड़ा खतरा आज 'परमाणु बम' या 'हाइड्रोजन बम' नहीं, स्वयं मानव है। आज चारों ओर विज्ञानका चमत्कार दिखलायी दे रहा है। मनुष्यका दावा है कि वह रोगोंको जीतता और मृत्युको दूर करता जा रहा है। भौतिक जन-जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें इसपर विज्ञान अवश्य गर्व कर सकता है, परंतु क्या उसने मानवको सुधारने-की ओर भी कुछ किया है? अपने यहाँके शास्त्रोंमें भी यह कहा गया है कि प्रत्येक वनस्पति ओषधि है, प्रत्येक वर्ण मन्त्र है; आवश्यकता है केवल योग्य तथा उपयुक्त प्रयोक्ताकी। सब कार्योंका प्रयोक्ता मानव ही है, पर उसे सच्चे अर्थमें मानव बनानेके लिये क्या किया जा रहा है? विश्वके अनेक विचारक गम्भीरतापूर्वक यह सोच रहे हैं कि मानव पृथ्वीको जिस तेजीसे बर्बाद कर रहा है, वायुमण्डलको विषाक्त बना रहा है, उसे देखते हुए क्या किसी समय इस पृथ्वीपर कोई भी पशु-पक्षी वनस्पति या स्वयं मानव भी प्राण धारण करनेमें समर्थ होगा? जनसंख्या बढ़ती जा रही है और जीवन-निर्वाहके साधन कम होते जा रहे हैं। यदि जनसंख्या इसी तरह बढ़ती गयी तो किसी दिन भूमि-पर मनुष्योंके लिये बसनेकी भी जगह नहीं रहेगी। हिसाब लगाकर देखा गया है कि केवल ढाई करोड़ वर्गमील बसने-योग्य भूमि है। पृथ्वीका लगभग तीन-चौथाई भाग जलाच्छादित है, शेष भागोंमें भी मरुस्थल और हिमसे ढके हुए भू-खण्ड हैं। जो थोड़ी-बहुत भूमि खाद्य उपजानेके लिये उपलब्ध है, उसमें भी काट-छाँट हो रही है। इतना ही नहीं, औद्योगिक प्रगति भी मानव-जातिके लिये अन्ततः एक अभिशाप सिद्ध हो रही है। कूड़ेकी समस्या देखनेमें साधारण जान पड़ती है; पर यदि गम्भीरतापूर्वक देखा जाय तो उसके द्वारा होनेवाले खतरोंका अनुमान लगाया जा सकता है। ज्ञात हुआ है कि वर्षभरमें एक ओर औसत अमरीकी तीन-चौथाई टन कूड़ा पैदा करता है और उसकी इसमें प्रतिवर्ष तीन प्रतिशतके हिसाबसे प्रगति हो रही है। केवल लॉस एन्जिलिस नगरमें प्रतिवर्ष एक करोड़, दो लाख वर्ग-फुट भूमि खोदकर कूड़ा उसमें दबाया जाता है। इससे भी उपजाऊ भूमिकी कमी हो रही है। प्रतिवर्ष संसारमें ४८ अरब अलमुनियमके डिब्बे और फेंके जाते हैं। यदि इस कूड़ेको जलाया जाय तो वायुके विषाक्त होनेका भय है। अमेरिका और ब्रिटेनमें रद्दी कारों (मोटर-गाड़ियों) को चूरा करके भूमिमें गाड़नेकी नौबत आ गयी है। बड़े-बड़े कारखानोंद्वारा जल और वायुको, जिनका शुद्ध रहना स्वस्थ जीवनके लिये आवश्यक है, गंदा बनाया जा रहा है। कहा जाता है कि अमेरिकामें ९ करोड़ टन विषैले तत्त्व कारखानों तथा गृहस्थोंद्वारा वायुमण्डलमें छोड़े जाते हैं।

ब्रिटेनमें ७५ लाख टन विष प्रतिवर्ष वायुमें घुलता है। वायुमण्डल और जलको विषाक्त बनाकर हम स्वयं एक नवीन खतरा उत्पन्न कर रहे हैं। उससे पशु-पक्षी भी सुरक्षित नहीं रह सकते, फिर मानवका तो कहना ही क्या ? कहा जाता है कि वनस्पतियों और पशु-पक्षियोंमें भी नये-नये रोग देखनेमें आते हैं। धीरे-धीरे शहरोंका विस्तार हो रहा है और गाँव उनके पेटमें समाते जा रहे हैं। शहरोंका जीवन कल-कारखानोंपर निर्भर करता है; पर वे जलवायुको कितना दूषित करते हैं, इसपर ध्यान नहीं दिया जाता। इन कल-कारखानोंसे बड़े-बड़े शहरोंपर हर समय एक धुआँ छाया रहता है, जिससे स्वास्थ्यको भारी हानि पहुँचती है। वायु शुद्ध करनेके जो उपाय बतलाये गये हैं, वे बड़े खर्चीले हैं और वे भी प्रभावकारी हैं या नहीं, इसमें संदेह है। इससे दूषित होकर वायु मानव-जीवनको कितनी हानि पहुँचाता है, इसका अनुमान लगाना कठिन है। मनुष्यने मशीनोंका आविष्कार किया, पर अब वह स्वयं उसका शिकार बनता जा रहा है। एक उदाहरण सामने है। स्वचालित यन्त्रोंका मनुष्यने आविष्कार किया, पर अब वह उसीकी प्रगतिमें बाधक बन रहा है। अब यह माना जा रहा है कि उससे बेकारी बढ़नेकी आशङ्का है—'रोग बढ़ता गया, ज्यों-ज्यों दवा की'—यह कहावत चरितार्थ हो रही है। इन सब उदाहरणोंसे यही सिद्ध होता है कि मानव स्वयं ही अपने विनाशकी ओर अग्रसर हो रहा है। उसका ध्यान अपने सुधारकी ओर नहीं है। वैज्ञानिक प्रगतिके लिये तो प्रयत्न किये जाते हैं, अपार धनराशि खर्च की जाती है; पर मानवको मानव बनानेकी ओर क्या हो रहा है ? सचमुच आज मानव-अस्तित्वके लिये सबसे बड़ा खतरा मानव ही है।

हालमें ही 'संयुक्तराष्ट्रसंघ'का एक प्रतिवेदन प्रकाशित हुआ है, जिसमें चेतावनी दी गयी है कि 'मनुष्य-संसारके नगर तथा मानवोंके कार्य शीघ्र ही इस पृथ्वीको ऐसा बना देंगे, जिससे वह रहनेयोग्य ही न रह जायगी।' यह निष्कर्ष वैज्ञानिक सर्वेक्षणपर आधृत है, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह प्रतिवेदन ६६ पृष्ठोंका है। उसमें बतलाया गया है कि 'मनुष्य जैसे-जैसे सभी दिशाओंमें विकास कर रहा है और अधिकतम सुविधाएँ जुटा रहा है, वैसे-ही-वैसे वह पृथ्वीको मनुष्योंके रहनेयोग्य न रखकर अनेकानेक कष्टोंका कारण बना रहा है।' इस आवेदनमें मानवकी परिस्थितियों तथा उनसे उत्पन्न समस्याओंकी विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है। उसमें बतलाया गया है कि 'भीड़-भाड़ अधिक होने, नगरोंमें बसनेकी प्रवृत्ति तथा प्राविधिक पिछड़ेपनके कारण उक्त संकट उत्पन्न हो सकता है।' यह प्रत्यक्ष है कि आजकल गाँवोंके लोग नगरोंकी ओर दौड़ रहे हैं। नगरोंकी आबादी बढ़नेसे उनके प्रमुख मार्गोंमें सुरक्षित रूपसे चलना भी एक समस्या हो गयी है, यातायात-दुर्घटनाओंके समाचार प्रायः प्रतिदिन आते रहते हैं, जिनमें १०-५ निर्दोष व्यक्ति कालका कलेवा बन जाते हैं। उद्योगोंके विकासपर बड़ा जोर दिया जा रहा है, पर हर समय चलनेवाली मशीनोंसे निकलनेवाले गंदे पानी एवं दुर्गन्धपूर्ण वायुसे सारा वातावरण दूषित हो रहा है। मकानोंकी कमी तथा स्वास्थ्य एवं सफाईकी समस्या भी विकट रूप धारण करती जा रही है। गाँवोंमें जो सुविधाएँ उपलब्ध होनी चाहिये, वे नहीं हो रही हैं। गत दिसम्बरमें राष्ट्रसंघकी महासभाने यह आदेश दिया था कि १९७२में अन्ताराष्ट्रिय सम्मेलन आयोजितकर इस प्रश्नपर विचार किया जाय कि जिस संसारमें हम रहते हैं, उसपर जन-संख्या-वृद्धि 'भू-रक्षण, आदि समस्याओंका समाधान किस प्रकार किया जाय।' इसके फलस्वरूप जो आँकड़े तथा तथ्य उपस्थित किये गये हैं, उनसे पता लगता है कि स्थिति कितनी गम्भीर है। अनुभव किया गया है कि जब नयी पीढ़ीके लोग अवकाश ग्रहण करेंगे, तब जनसंख्या दुगुनी हो जायगी। इसके प्रतिकूल जो भूमि हमें अन्न देती है, उसमें कमी होती जा रही है। अबतक एक अरब एकड़ खेतीयोग्य भूमि क्षरण अथवा लवणसे खराब हो गयी है। भूमिको उपजाऊ बनानेका प्रयास किया जा रहा है। इन साधनोंका बिना सोचे-समझे जिस प्रकार प्रयोग किया जा रहा है, उससे कहीं भूमिकी उर्वरता ही समाप्त न हो जाय। अपने यहाँ गोबरकी खादसे काम लिया जाता था, इससे भूमिकी उर्वरता नष्ट नहीं होने पाती थी। परंतु अब उसके स्थानपर विदेशी अथवा भारतमें ही बने रासायनिक उर्वरोंपर जोर दिया जा रहा है। इनके प्रयोगके सम्बन्धमें विदेशी वैज्ञानिकोंने भी हमें सावधान किया है। राष्ट्रसंघके उक्त प्रतिवेदनमें बतलाया गया है कि 'दो-तिहाई वन-भूमि हम खो चुके हैं। जीव-जगत्में इसके कारण बड़ी तेजीसे परिवर्तन हो रहा है। अनुमान लगाया गया है कि इसके कारण पशु-पक्षियोंकी १५० जातियाँ समाप्त हो गयी हैं। नगरोंकी आबादी बढ़ने-

का हमारे समस्त जीवनपर प्रभाव पड़ता है। गंदी बस्तियोंका विस्तार, अपराधोंकी वृद्धि, लूट-मार तथा हत्याकी प्रवृत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं।' राष्ट्रसंघके उक्त प्रतिवेदनमें जो चेतावनी दी गयी है, उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसपर विचार करनेके लिये राष्ट्रसंघद्वारा सन् १९७२में एक विश्व-सम्मेलन बुलाया जा रहा है। उसका प्रतिवेदन बड़ा महत्त्वपूर्ण होगा और उससे मानव-कल्याणमें कुछ सहायता मिलेगी। यह प्रश्न किसी एक देशका नहीं, समस्त विश्व-का है। इसके प्रतिवेदनकी प्रतीक्षा उत्सुकतापूर्वक की जायगी।

'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'

(लेखक—श्रीरामनाथजी 'सुमन')

संसारको देखनेके दो प्रकार हैं—मित्र-दृष्टिसे और द्वेष-दृष्टिसे। ऋषि कहते हैं—

'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।'

(शुक्ल० य०)

अर्थात् 'हमलोग मित्रकी दृष्टिसे संसारको देखें।' यह उपदेशकी वाणी नहीं है, यह युगोंके अनुभवकी वाणी है। जितना ही तुम दूसरोंसे प्रेम करोगे, दूसरोंसे जुड़ते जाओगे, उतने ही सुखी होगे; और जितना ही दूसरोंको द्वेष-दृष्टिसे देखोगे, उनसे कटते जाओगे, उतने ही दुखी होओगे। यह जुड़ना ही प्रेम है, यह जुड़ना ही आनन्द है। यहाँ पराया कोई नहीं; जो हैं, अपने हैं। मित्रताभरी आँखोंसे देखकर तुम मित्रोंकी संख्या बढ़ाओगे; वे अपने हो जायँगे और न भी हुए तो उनके परायेपनकी धार कुंद पड़ जायगी।

ईसाइयोंमें एक सम्प्रदाय है—वेज्लियन मेथडिस्ट (Wesleyan Methodist) सम्प्रदाय। इसके संस्थापक जॉन वेस्ली (John Wesley) ने कहीं लिखा है। 'छटाँक-भर प्रेम सेरभर ज्ञानसे कहीं अच्छा है।' प्रेम ज्ञानसे अच्छा तो है ही, एक अर्थमें वह स्वयं ज्ञान है तथा सच्चे ज्ञानका उद्गमस्थल है। संत ग्रेगोरी (St. Gregory) ने कहा है—'समस्त ज्ञानकी उत्पत्ति प्रेमसे होती है।' गेटे (Goethe) ने भी कहा है—'परिश्रमसे जो काम सारी उम्रमें कठिनाईसे होता है, वह प्रेमके द्वारा एक क्षणमें हो जाता है।'

मित्रताकी आँख अर्थात् प्रेमकी आँख और अमित्रताकी आँख अर्थात् द्वेषकी आँख। पहलेसे धरती स्वर्ग बनती है; दूसरेसे दुर्व्यवहार, दुर्वचन, अहंकार, अतः नरकका जन्म होता है।

महाभारतके आदिपर्वमें एक छोटी-सी कथा है। पञ्चाल देशके राजा यज्ञसेनका पुत्र द्रुपद पढ़नेके लिये भरद्वाजके आश्रममें गया। वहाँ वह बहुत दिनोंतक रहा और उसने अनेक प्रकारकी विद्याएँ सीखीं। आश्रममें रहते हुए मुनि-पुत्र द्रोणसे उसकी खूब मित्रता और घनिष्ठता हो गयी। आश्रमसे विदा होते समय द्रुपदने द्रोणसे कहा—'यदि तुम कभी हमारे देशमें आओगे तो हम तुम्हारा हर तरहसे सम्मान करेंगे और तुम्हें अपना कुलगुरु बनायेंगे।' कुछ समय बाद यज्ञसेनकी मृत्यु हो गयी और द्रुपद राजा हुए।

उधर उसके सहपाठी द्रोणका भी समयपर गौतम-पुत्री कृपीके साथ विवाह हो गया। इस विवाहसे अश्वत्थामाका जन्म हुआ। इन दिनों द्रोण बड़ी तंग स्थितिमें थे, उनकी आर्थिक अवस्था शोचनीय थी—यहाँतक कि वे अपने पुत्रको दूध भी न दे सकते थे। बालक अश्वत्थामा अपने साथियोंको दूध पीता देखकर स्वयं भी दूधके लिये हठ करता था, किंतु द्रोण अपनी निर्धनताके कारण अपने प्यारे पुत्रकी इच्छा-पूर्ति करनेमें असमर्थ थे। बालकको बहलानेके लिये उसकी माँ कृपी पानीमें घोले हुए आटेको दूध कहकर उसे पिला देती थी। वह अपने साथियोंसे जाकर कहता—'मैं भी दूध पीकर आता हूँ, किंतु साथी बालक उसका उपहास करते हुए कहते—'तुमको दूध कहाँ मिलेगा ? पानीमें घुले आटेको तुम दूध कहते हो ?' इस अपमानसे क्षुब्ध होकर अश्वत्थामा एक दिन अपने पिताके पास गया और रोते हुए ये सब बातें उसने उन्हें सुनायीं। सुनकर पिताका हृदय उमड़ आया, उनकी आँखें भीग गयीं और उन्होंने सहधर्मिणीसे कहा—'अब मुझसे नहीं सहा जाता; अब तो मुझे कोई उपाय करना ही होगा।'

सोचते-सोचते द्रोणको अपने बाल-सखा द्रुपदद्वारा दिये हुए आश्वासनकी याद आयी। वे पञ्चाल देशकी ओर चल पड़े।

वहाँ पहुँचनेपर जब वे राजा द्रुपदके सामने लाये गये, तब उन्होंने अनजान बनकर इनका परिचय पूछा। जब इन्होंने पुरानी बातोंकी याद दिलाकर कहा कि 'आश्रममें तुम हमारे घनिष्ठ मित्र थे और तुमने मुझसे कुछ प्रतिज्ञा भी की थी', तब द्रुपदने कहा—'राजा और याचककी कैसी मित्रता ? मैंने तुमसे कोई प्रतिज्ञा नहीं की।' सुनते ही द्रोण उलटे पाँव यहाँसे लौट आये और उनसे इस अपमानका बदला लेनेके लिये ही उन्होंने कौरव-पाण्डवोंको धनुर्वेदकी शिक्षा देना आरम्भ किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि अर्जुनने मुश्कें बाँधकर द्रुपदको द्रोणके सामने उपस्थित किया।

प्रतिहिंसाकी जो लहर उठी, वह शान्त नहीं हुई; द्रुपदके इस अपमानका बदला उनके बेटे धृष्टद्युम्नने द्रोणका सिर काटकर लिया और फिर द्रोणपुत्र अश्वत्थामाने धृष्टद्युम्न-को मारकर पितृ-ऋण चुकाया। सम्पूर्ण महाभारत इसी दुष्ट दृष्टिका परिणाम था।

ठीक इसके विपरीत उदाहरण कृष्ण-सुदामाका है। दोनोंके बीच ठीक वही सम्बन्ध था, जो द्रुपद और द्रोणके बीच था; किंतु जब सुदामा निर्धनताकी मारसे विकल हो श्रीकृष्णके पास पहुँचे, तब श्रीकृष्णने देखते ही दौड़कर उन्हें छातीसे लगा लिया। कवि तो कहता है कि अपनी अश्रुधारासे ही उन्होंने अपने बाल-सखाके पाँव धोये, अपने और मित्रके बीच कहीं वैभवको नहीं आने दिया। वे बराबर नम्रता और स्नेह ही उड़ेलते रहे तथा जो कुछ भी कर सकते थे, बिना मित्रके कहे ही उन्होंने कर दिया।

इन दोनों दृष्टान्तोंमें प्रकारान्तरसे वही मित्र-दृष्टि और द्वेष-दृष्टिके परिणामोंका निदर्शन है। मानव मानव होता ही तब है, जब वह प्रेमको मैत्रीकी दृष्टिको ग्रहण करता है। प्रेम ही जीवनका उत्स है, प्रेम ही उसका पथ है, प्रेम ही उसका गन्तव्य है।

जब ईसाने कहा था—'अपने शत्रुओंसे प्रेम करो', तब संसार उनकी बातपर हँस पड़ा था। जब बुद्धने कहा—'अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्', तब आस्थाहीन लोगोंने उनका उपहास किया। जब गाँधीने कहा—'विरोधीके प्रति भी अहिंसक व्यवहार करो', तब लोगोंने सूखी हँसी हँस दी। आज भी प्रेमकी, क्षमाकी, अहिंसाकी, जीव-मैत्रीकी बातें करनेपर लोग सिर हिला देते हैं, कहते हैं, ये सब हवाई बातें हैं। परंतु प्रेम क्या सचमुच हवाई है ? यह ठीक है कि मनुष्यमें पशुताका अंश भी दिखायी पड़ता है; परंतु वह आरोपमात्र है। मनुष्यमें प्रेमका अंश उससे कहीं अधिक है और यह बात इससे कहीं अधिक सत्य है कि प्रेम किये बिना मनुष्य जी ही नहीं सकता। जबतक वह प्रेम न करेगा, स्वरूपके दर्शन न कर सकेगा। आनन्द और रससे दूर जीवनके नरकमें भटकता ही रहेगा।

तुम किसीको शत्रु-दृष्टिसे देख सकते हो, तुम उससे बदला ले सकते हो, तुम उसे हानि पहुँचा सकते हो। परंतु ऐसा करके तुम आनन्द नहीं प्राप्त कर सकते, सुखी नहीं हो सकते; क्योंकि उसको हानि पहुँचानेके पहले तुम अपनेको हानि पहुँचा चुकते हो; आत्मद्रोह कर चुकते हो। इसीलिये जब तुम ऊपरसे क्षणभरको उल्लसित हो उठते हो, तब भी अंदरसे अत्यन्त संतप्त, व्याकुल, अतृप्त और प्यासे रह जाते हो। सुख और आनन्दके लिये प्यारके सिवा दूसरा रास्ता ही नहीं है। इसलिये जगत्में जितने महा-पुरुष हुए हैं, जितने संत हुए हैं, सब इसी प्रेम-मार्गकी ओर संकेत करते हैं। जिसे नीचेसे ऊपर उठना है, जिसे जीवनकी उच्च भूमिकापर पहुँचना है, जिसे सच्चे आनन्द और सुखकी खोज है, उसके लिये दूसरा रास्ता नहीं है।

सुकरातसे उसके किसी विरोधीने एक बार कहा था—'यदि मैं तुमसे बदला न ले सकूँ तो मर जाऊँ।' सुकरातने उत्तर दिया—'यदि मैं तुम्हें अपना मित्र न बना सकूँ तो मर जाऊँ।'

आज संसार नरक हो गया है। सारी विद्या-बुद्धि, प्रगति और वैज्ञानिक उपलब्धियोंके होते हुए भी जीवन भाररूप हो गया है। ईर्ष्या-द्वेष और घृणाका अन्धकार फैलता ही जा रहा है। हमारा बहुत-सा दुःख दूसरोंके प्रति हमारे संशय और अविश्वाससे पैदा हुआ है। जिसे हम आँखोंकी कोरोंमें जरा-सी मुस्कानकी किरण फैलाकर अपना बना सकते हैं, जिसे हम अधरपर फूटे दो प्रेम-बोलोंसे जीत ले सकते हैं, उसे हम अपनी शङ्कालु दृष्टि, चढ़ी हुई भौंहों और व्यङ्ग्यके कटु शब्दोंसे दूर हटाते जा रहे हैं। सहानुभूतिके स्पर्शसे पत्थर द्रवित हो जाता है, प्रेमकी एक चितवन दुर्भावनाओंकी काईको काटकर सदाके लिये बहा देती है, वह हृदयमें सीधे प्रवेश कर वहाँ अपना घर बना लेती है। जब मन रससे भरा होता है, तभी हम आनन्दकी भूमिमें प्रवेश करते हैं; जब मानव स्नेहका दान करता है, तभी उसका जीवन सार्थक होता है। इसलिये जो आनन्द चाहता है, उसे अपने हृदय-कपाट खोल देने होंगे। क्या यह कठिन है ? क्या यह असम्भव है ? जरा भी नहीं। किंतु इसके लिये हमें दृष्टि बदलनी होगी। निश्चय कर लेना होगा कि

आजसे प्रतिदिन हम एक नया मित्र बनायेंगे, प्रतिदिन हृदयकी कोई-न-कोई गाँठ खुलेगी और हृदयमें पत्थर बनी वासना और कटुताकी अहल्याएँ मानवी बनती जायँगी। कठिनाई यह नहीं कि प्रेम दुर्लभ है; नहीं, वह संसारमें सबसे अधिक सुलभ है, प्रत्येक प्राणीमें उसे प्राप्त किया जा सकता है। किंतु कठिनाई यह है कि हम दिलका दरवाजा बंद किये बैठे हैं और पाहुन कुंडी खटखटाकर लौटते जाते हैं।

जरा हृदयके कपाट खोल दीजिये और प्रतिदिन सुबह उठकर निश्चय कीजिये कि आज आप एक नया मित्र बनायेंगे। इसकी खोजमें कहीं दूर जाना नहीं है। राह चलते हुए, अपने प्रतिदिनके सामान्य कामोंको करते हुए आप उसे पा लेंगे। आप चाहे जितने व्यस्त हों, आगन्तुकके लिये स्नेहभरी मुस्कान तो आप बिछा ही सकते हैं। चीजें खरीदनेके लिये आनेवाले ग्राहक, यात्राके लिये टिकट पानेको व्याकुल मुसाफिर, अकेली यात्रा करती अरक्षित बहिन, रास्ता भूले यात्री, आफिसमें आपके पास कामसे आनेवाले आदमी, अध्ययनकी गुत्थियोंमें उलझे हुए छात्र, दिनभरकी हारी-थकी गृहिणियाँ और द्वारकी ओर उत्सुकताकी दृष्टि बिछाये बच्चे, कष्टसे तड़पते रोगी, भूख-प्याससे शिथिल मानव—न जाने कितने रूपोंमें तुम्हारे स्नेह तथा सहानुभूतिके प्यासे भक्त बिखरे हुए हैं। केवल देखनेका साहस करो और बंद दरवाजे खोल दो। प्राणवायुको अंदर आने दो—प्रेमकी प्राणवायु, स्नेह और मित्रताकी जादूभरी वायु; बस, तुम्हारा काया-कल्प हो जायगा।

पग-पगपर प्रेम तुम्हें पुकार रहा है और तुम हो कि अपनी आँखें बंद किये, अपने कान बंद किये, पथपर चले जा रहे हो—निरानन्द थकावटसे भरे, प्रभुको उलाहना देते, भाग्यको कोसते। जरा आँखें खोलो, पाहुन तुम्हारे द्वारपर खड़ा है; जरा कान खोलो, भगवद्विभूति तुम्हें पुकार रही है। अगणित मित्र तुम्हारा आवाहन कर रहे हैं। केवल देखने-देखनेकी बात है; आनन्द तुम्हारा है, प्रेम तुम्हारा है; स्वर्ग तुम्हारा है, प्रभु तुम्हारे हैं।

धर्मकी उत्पत्ति एवं वृद्धिके कारण

[महाभारतके दो मननीय श्लोक]

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

पशु-पक्षियोंकी अपेक्षा मानव-जीवनको दुर्लभ और श्रेष्ठ बतलाया गया है। इसका प्रधान कारण है, मन और बुद्धिकी विशेष शक्तिका होना। अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा प्रकृतिसे ही वह मनुष्यको अधिक प्राप्त हुई है। इस शक्तिके द्वारा मानवने अनेक आविष्कार किये और गहरे चिन्तन और विवेकद्वारा आत्माको बहुत ऊँची स्थितिमें पहुँचाया। मनीषियोंने, जो कार्य अभ्युदय और निःश्रेयसके कारण हैं, उन्हें 'धर्म'की संज्ञा दी है। भारतवर्षमें अनेक ऋषि-मुनियोंने एकान्त जंगलों एवं पर्वतोंमें जाकर कठोर तप और साधना की और उसके फलस्वरूप जो कल्याणपथ उन्हें दिखायी दिया, उसे उन्होंने जगत्के समक्ष रखा। एक दीपसे अनेक दीप जले। मानव-समाज अज्ञानरूपी अन्धकारसे ज्ञानरूपी प्रकाशकी ओर बढ़ा। अपने कल्याणके साथ विश्वके कल्याण-की उदात्त भावना उदित हुई। समस्त प्राणियोंकी आत्मा एक ही है—इस सिद्धान्तके अनुसार सबके साथ बन्धुत्व या मैत्रीभावका प्रचार होने लगा। हिंसासे विरत होकर अहिंसामय जीवनकी ओर प्रगति हुई। जैसा बर्ताव हम दूसरोंकी ओरसे अपने लिये चाहते हैं, वैसा ही व्यवहार हम दूसरोंके साथ करें—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

जैसा व्यवहार हम दूसरोंसे अपने लिये नहीं चाहते, वैसा व्यवहार हम भी दूसरेके साथ न करें।

'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।'

'जो सभी प्राणियोंको अपने समान समझता है, वही ठीक समझता है।' ये आदर्शवाक्य जन-मनमें प्रतिष्ठित हुए। मिथ्या-भाषण, चोरी, पर-स्त्रीगमन त्याज्य हैं और सत्य, अचौर्य एवं ब्रह्मचर्य उपादेय हैं, इस तरहका मानव-धर्म प्रतिष्ठित हुआ। बड़े-बड़े महापुरुष समय-समयपर उत्पन्न हुए और उन्होंने कठोर साधना एवं गहरे चिन्तनसे बन्ध और मोक्षके कारणोंको ढूँढ़ा। सुख और दुःख क्या हैं और क्यों होते हैं—इत्यादि जीवनके अनन्त प्रश्नोंके समाधान खोजे और अपनी उदात्त वाणीसे अनुभवकी अमृतवर्षा कर मानवोंको अजर-अमर बना दिया।

धर्म मानवके मस्तिष्ककी सबसे महत्त्वपूर्ण उपज है। धर्मके सम्बन्धमें जितना चिन्तन गहराई और अनेक दृष्टि-बिन्दुओंसे भारतवर्षमें हुआ है, उतना विश्वके अन्य किसी भी देशमें नहीं हुआ। साथ ही जीवनमें भी धर्मकी जितनी प्रतिष्ठा भारतीय मानवोंमें हुई, उतनी अन्यत्र शायद ही कहीं हुई हो। भारतमें ऐसे-ऐसे ज्ञानी, योगी, भक्त एवं जीवन्मुक्त संत-महात्मा हुए, जिनकी तुलनामें अन्य किसी भी देशके किसी भी व्यक्तिको नहीं रखा जा सकता। ऐसे गौरवशाली भारतवर्षकी आज जो स्थिति है, उसका जिस सीमातक नैतिक पतन हुआ है, उसे देखकर अवश्य ही हृदयको गहरा आघात पहुँचता है। थोड़े वर्षों पहलेतक जो नीतिमय व्यवहार और धर्म-भावना यहाँके जन-जनमें दिखायी देती थी, उसका सहसा इतनी दूरतक लुप्त हो जाना बड़ी ही विचारणीय और अखरनेकी बात है।

गम्भीर विचार करनेपर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि हमको अपने महापुरुषोंके जीवनसे और उनकी अनुभव-वाणीसे जो प्रेरणा एवं शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये थी, वह नहीं ग्रहण कर रहे हैं और पाश्चात्त्य भौतिक उन्नतिकी चकाचौंधसे हम किंकर्तव्यविमूढ़-से हो गये हैं। मध्यकालमें बाहरी क्रियाकलापों एवं रूढ़ियोंपर अधिक जोर दिया गया और धर्मके मौलिक तत्त्व भुला-से दिये गये। इसका परिणाम यह हुआ कि देव-मन्दिरोंमें और गुरुओंके पास जाते हुए भी, धार्मिक ग्रन्थोंको पढ़ते एवं सुनते हुए भी वास्तविक धर्मसे हम दूर होते गये और इसीका परिणाम है कि हमारे आदर्श और व्यवहारमें बहुत अधिक अन्तर आ गया है। आजके नवयुवकों एवं नव-शिक्षितोंकी तो धर्मके प्रति आस्था ही नहीं रही। वे इसे पाखण्ड—ढोंग और मानवकी प्रगतिमें बाधकतक कहने लगे हैं। इसलिये हमारे लिये अपने महापुरुषोंकी जीवनी और वाणीसे पुनः ऐसी प्रेरणा और शिक्षा ग्रहण करना आवश्यक है, जिससे जीवनमें धर्म पुनः प्रतिष्ठित हो।

धर्मकी उत्पत्ति किससे होती है, उसकी वृद्धि किन कामोंसे होती है, उसकी स्थिति या स्थापना किसके द्वारा होती है और किन-किन कारणोंसे धर्मकी बेल सूखकर नष्ट हो जाती है—इसके सम्बन्धमें महाभारतमें दो बहुत ही सुन्दर श्लोक प्रश्नोत्तरके रूपमें आये हैं। पहले श्लोकमें उपर्युक्त प्रश्न उठाये गये हैं और दूसरेमें उनका उत्तर दिया गया है। उत्तर क्या है? थोड़ेमें बहुत अधिक कह दिया गया है। दूसरे श्लोकपर पुनः-पुनः गम्भीर विचार करते रहनेकी आवश्यकता है। आप उसपर जितना मनन करेंगे, उतना ही उसका महत्त्व अधिकाधिक प्रकट होता जायगा।

धर्मसम्बन्धी महाभारतके प्रश्नोत्तरवाले वे दो श्लोक इस प्रकार हैं:—

प्रश्न—कथमुत्पद्यते धर्मः कथं धर्मो विवर्धते।
कथं च स्थाप्यते धर्मः कथं धर्मो विनश्यति॥
उत्तर—सत्येनोत्पद्यते धर्मो दयादानेन वर्धते।
क्षमया स्थाप्यते धर्मः क्रोधलोभाद् विनश्यति॥

सबसे पहली विचारणीय बात यह है कि धर्मकी उत्पत्ति कहाँसे होती है। इसके उत्तरमें कहा गया है कि सत्यसे। 'सत्य' शब्द बहुत व्यापक है। केवल झूठ बोलना ही असत्य नहीं है, यदि हमारे मनमें कुछ और है, वाणीमें कुछ दूसरी ही बात है और आचरण उससे भिन्न है तो वह जीवनका सबसे बड़ा असत्य है। मनुष्यमें कमजोरियाँ बहुत-सी हैं और गलतियाँ भी होती ही रहती हैं; पर यदि हम अपने दोषों और पापोंको पापरूपमें ही मानते हैं और यद्यपि उन्हें छोड़ नहीं पाते, फिर भी इसके लिये हार्दिक पश्चात्ताप करते रहते हैं तो एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा, जिस दिन हम अपने जीवनके सुधार या उद्धारमें आगे बढ़ सकेंगे। पर यदि हम अपने दोषोंको दोष ही नहीं मानेंगे और उन्हें छिपाते रहेंगे या झूठी शान या दिखावटके लिये जीवनमें कपट-धोखाधड़ीको स्थान देंगे तो हमारा जीवन दिनोंदिन अधिकाधिक कलुषित होता जायगा; क्योंकि सत्यसे हम दूर हट गये। जो वस्तु जिस रूपमें है, उसे हमने यदि उस रूपमें नहीं समझा या विपरीत समझा—यह तो असत्य ही हुआ। बोलना तो पीछे होता है, सबसे पहले मनमें खराबी आती है, वाणी और वर्तावमें उसके बाद। इसीलिये हमें अपने अन्तरको टटोलते रहना है कि उसमें असत्का आकर्षण तो नहीं बढ़ गया।

अब दूसरा प्रश्न है—यदि किसी शुभ संयोगसे सत्य या धर्मकी ओर हम अभिमुख हो गये हैं तो उस धर्म-भावनामें कमी न आये, अपितु वह बढ़ती ही चली जाय—इसके लिये हम क्या उपाय करें? ऊपरके श्लोकमें इसके उत्तरमें कहा गया है कि 'दया और दानसे धर्मकी वृद्धि होती है।' हिंसा मानव-समाजमें पशुओंकी अपेक्षा भी अधिक बढ़ी हुई है। अहिंसाके द्वारा ही एक दूसरेका संरक्षण हो रहा है, नहीं तो परस्पर कट-मरकर सारे प्राणी समाप्त ही हो गये होते। प्रेम, वात्सल्य, अनुकम्पा, करुणा, दया, सहानुभूति, सद्भावना, सहयोगिता—ये सब अहिंसाके ही विविध रूप हैं। अपने जन्मके साथ ही प्राणीको दूसरेकी सहायता अपेक्षित होती है; क्योंकि वह उस समय आत्मरक्षा करनेमें समर्थ नहीं होता। इसीलिये माता-पिता एवं अन्य परिवारवालोंके वात्सल्य या

प्रेम-भावनासे वह जीवित रहता है एवं बढ़ता है ।

दयाका ही एक प्रकार 'दान' है । हमारे पास जो कुछ है, यदि उसके देनेसे दूसरेका कुछ भी भला होता हो तो हम करुणा या दयाभावसे उसकी अवश्य सहायता करें, यही हमारा कर्तव्य हो जाता है । जब हमारा जीवन दूसरोंकी सहानुभूति, सहायतापर निर्भर है और हम दूसरोंसे भी किसी-न-किसी रूपमें प्रतिपल ग्रहण कर ही रहे हैं, तब हम दूसरोंको भी अपनी बुद्धि-शक्ति एवं सम्मतिद्वारा सहायता दें, यह हमारा स्वधर्म हो जाता है ।

महाभारत भारतीय धर्म एवं संस्कृतिका महान् आकर ग्रन्थ है, उसमें मनुष्यको सब प्राणियोंसे उच्च पद दिया गया है; ऐसी दशामें मानवमें इतर प्राणियोंकी अपेक्षा कुछ विशेषताएँ होनी ही चाहिये । अन्य प्राणी विवेकविकल हैं, उन्हें कर्तव्य-अकर्तव्यके निर्णयका विचार-बल प्राप्त नहीं है। अतः एक दूसरेका अनुकरण करते रहते हैं, स्वयं विचार नहीं पाते । मनुष्यमें प्रकृतिदत्त अनेक ऐसी विशेषताएँ हैं, जिनसे वह मोक्षतक प्राप्त कर सकता है । उसमें दोषोंसे बचे रहने एवं सद्गुणोंके विषयकी अद्भुत क्षमता है । अतः प्राप्त बुद्धि, शक्ति-साधनोंका सदुपयोग करते रहना चाहिये ।

मानवको केवल व्यक्तिगत एवं पारिवारिक स्वार्थतक ही सीमित न रहकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावनाका विस्तार करते रहना एवं सबके कल्याणका प्रयत्न करते रहना चाहिये । काम, क्रोध, मान-ईर्ष्या, कपट, लोभ, हिंसा-द्वेष आदि अवगुणोंसे ऊपर उठकर क्षमा, शील, संतोष आदि गुणोंका अधिकाधिक विकास करनेमें प्रयत्नशील होना आवश्यक है ।

दण्डपाणि

(लेखक—पं० श्रीशिवनाथजी दुबे, साहित्यरत्न)

परम पवित्र वाराणसीपुरीकी बड़ी महिमा है। वह 'मुक्ति-भूमि' कही जाती है । वहाँ शरीरत्याग करनेवाले मनुष्य, पशु, पक्षी—यहाँतक कि कीट-पतंग भी काशी-विश्वेश्वरके अनुग्रहसे सदाके लिये मुक्त हो जाते हैं। उन्हें फिर मातृगर्भमें नहीं आना पड़ता—जन्म-जरा-मरणकी यातना नहीं सहनी पड़ती । उस पवित्रतम काशीपुरीका शासन भगवान् दण्डपाणि करते हैं । दयामय विश्वनाथने स्वयं उन्हें दण्डनायकके पदपर नियुक्त किया है । महामति दण्डपाणिके नेत्र पीले एवं उनकी जटाएँ भी पीली हैं। वे अविमुक्त वाराणसीपुरीके सूत्रधार तथा बाबा विश्वनाथके अत्यन्त प्रिय हैं । वे संतों एवं सात्त्विक गुणोंसे सम्पन्न व्यक्तियोंके लिये सौम्य तथा दुष्टों, क्रूरकर्मियों एवं पातकियोंके लिये अत्यन्त भयंकर हैं । वे अत्यन्त तेजस्वी, सम्पूर्ण जीवधारियोंका अन्तकालीन शृङ्गार करनेमें अत्यन्त निपुण, ज्ञानके दाता एवं मुक्तिका साक्षात्कार करानेवाले हैं । परमपुण्यमय विश्वेश्वरप्रिय दण्डनायक पापियोंको अनेक प्रकारकी पीड़ा पहुँचाकर वाराणसीसे दूर खदेड़ देते हैं और भगवद्भक्तोंको दूरसे भी लाकर काशी-वासका सुयोग प्रदान करते हैं । उनकी कृपासे भक्तजन सदा ही निर्भय रहते हैं । पार्वतीवल्लभ, कर्पूरगौर शशाङ्कशेखरने स्वयं अपने मुखारविन्दसे कहा है कि 'जो ज्ञानोद तीर्थमें स्नान, तर्पण आदि करके तुम्हारी (दण्डपाणिकी) पूजा करेगा, वही यहाँ पुण्यात्मा होकर लोकमें मेरी असीम दयासे कृतार्थताका अनुभव करेगा ।' इस कारण काशीवास करनेवाले सभी भक्त नियमपूर्वक प्रतिदिन करुणामय बाबा विश्वनाथके साथ कारुणिक दण्डपाणिका भी दर्शन करते हैं ।

दण्डनायकका पद प्राप्त करनेके लिये उन्होंने बड़ी कठिन तपश्चर्या की थी । वे उत्तम यक्षकुलमें उत्पन्न हुए थे । उनका नाम हरिकेश था । उनके पिता और पितामहादि सभी कालकण्ठ भगवान् रुद्रके भक्त थे । हरिकेशका वर्णन इस प्रकार मिलता है—

प्राचीनकालमें गन्धमादन पर्वतपर रत्नभद्र नामक अत्यन्त धर्माचरणसम्पन्न एवं पुण्यकर्मोंको करनेवाला यक्ष रहता था । वह भगवान् शंकरका भक्त था । वह उमानाथकी पूजा बड़ी ही तन्मयता एवं तत्परतासे करता था । उसके एक ही पुत्र था । उसका नाम पूर्णभद्र था । पिताके सदाचार, धर्म, पुण्यकर्म एवं शिवभक्तिके संस्कार पूर्णभद्रपर पड़ते जा रहे थे । किंतु वह बालक ही था, तभी उसके पिता रत्नभद्रकी जीवन-लीला समाप्त हो गयी । वह अत्यन्त सुखद एवं शान्त शिवलोकमें पहुँच गया ।

कुछ ही दिनोंमें पूर्णभद्रने यौवनमें प्रवेश किया। वह भी नीलकण्ठकी भक्तिमें रत था। उसके पास अमित वैभव तथा सम्पूर्ण भोग-सामग्रियाँ एकत्र थीं। वह प्रत्येक रीतिसे सम्मानित एवं सुखी था, किंतु उसे कोई संतान नहीं थी। इस कारण वह मन-ही-मन दुखी रहता था।

एक दिन उसने अपनी धर्मपत्नी कनककुण्डलाको बुलाकर उससे अपनी मानसिक व्यथा प्रकट कर दी। कनककुण्डलाने बड़े ही प्रेमसे अपने पतिको धैर्य बँधाते हुए कहा—'आर्यपुत्र! आप अधीर न हों। हमारे पूर्वजोंके आराध्य एवं हमारे इष्टदेव आशुतोष महादेव सर्वसमर्थ हैं। संतानहीन महर्षि शिलादने उन शिवकी कृपासे मृत्यु-विजयी पुत्र प्राप्त कर लिया। जो वस्तु हमारी मन-बुद्धिमें भी नहीं आ सकती, वह दुर्लभ मोक्ष-पद भी वे परमप्रभु संतुष्ट होकर क्षणार्द्धमें दे देते हैं। यदि आप सबका मङ्गल चाहनेवाले तेजस्वी पुत्रकी कामना करते हैं तो उन्हीं परमप्रभुकी चरण-शरण ग्रहण कीजिये।'

अपनी प्राणप्रिया साध्वी कनककुण्डलाके परामर्शसे पूर्णभद्र अत्यन्त प्रसन्न हुआ और वह मन-ही-मन भगवान् शंकरसे प्रार्थना करने लगा। उसने बाबा भोलेनाथ-की आराधना आरम्भ कर दी। वह संगीत-कलामें अत्यन्त निपुण था। उसने कुछ ही दिनोंमें चन्द्रमौलिको संतुष्ट कर लिया और थोड़े ही दिनोंके बाद उसकी पत्नी कनक-कुण्डलाके गर्भसे एक अत्यन्त सुन्दर तथा श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न हुआ। पूर्णभद्रकी प्रसन्नताकी सीमा न रही। बालक धीरे-धीरे बढ़ने लगा। उसका नाम हरिकेश रखा गया।

बाल्यकालसे ही हरिकेशका मन भगवान् शंकरमें लग गया। वह खेल-खेलमें भी धूलके घरौंदेके स्थानपर मिट्टीकी शिवजीकी मूर्ति बनाता और सुकोमल तृणादिसे उसकी पूजा करता था।

हरिकेश अपने मित्रोंको 'नीलकण्ठ', 'कालकण्ठ', 'त्रिलोचन', 'चन्द्रशेखर' और 'मृत्युञ्जय' आदि शिवके नामोंसे ही पुकारता था। कुछ सयाना होनेपर वह जटाजूटधारी त्रिनेत्रका ही निरन्तर चिन्तन करने लगा। उसका मन शिवमें इतना लग गया कि भगवान् शंकरके सिवा उसे कहीं कुछ भी अच्छा नहीं लगता था। वह भूतभावन महादेवके मन्दिर-के अतिरिक्त कहीं नहीं जाता था। उसके हाथ-पैर-मुख-नेत्र-जिह्वादि कर्पूरगौरकी ही सेवामें लगे रहते थे। खाद्य और पेय वह अपने प्राणप्रिय कालनाशन प्रभुको समर्पित किये बिना कभी ग्रहण नहीं करता था। उठते-बैठते, सोते-जागते, प्रतिक्षण वह अपने इष्टदेवके ध्यानमें ही तन्मय रहता था। रात्रिमें भी सोते-सोते वह महेश्वरका नाम लेते हुए जाग जाता था।

पुत्रकी ऐसी दशा देखकर एक दिन हरिकेशके पिता पूर्णभद्रने उसे समझाया—'बेटा! अब तुम सयाने हो चले। तुम्हारे घरमें अपार धन-वैभव है। तुम ज्ञानार्जनकर इनका उपभोग करो। सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करो। वृद्ध होनेपर भक्तिका आश्रय ग्रहणकर जीवन सफल कर लेना।'

हरिकेशको पिताका उपदेश प्रिय नहीं लगा। जब पूर्णभद्रने अनेक बार उसे समझाया, तब हरिकेश एक दिन चुपके-से घरसे निकल भागा। वह गन्धमादनसे बहुत दूर चला गया, किंतु मार्गमें भटक गया। वह निश्चय नहीं कर पाता था कि किधर जाऊँ। उसने व्याकुल होकर अपने परमप्रभु शिवका स्मरण करते हुए उनसे प्रार्थना की, 'प्रभो! मैं कहाँ जाऊँ? मुझे मार्ग दिखाइये। दया कीजिये दयामय!'

फिर उसने सोचा, जिनकी कहीं गति नहीं है, उनकी गति काशीपुरी ही है। यह विचारकर वह काशीपुरी-के लिये चल पड़ा और कुछ ही दिनोंमें काशी पहुँच गया। उसने पुण्यसलिला भगवती भागीरथीके शीतल जलमें स्नान कर काशी-विश्वेश्वरका दर्शन किया। अब उसके आनन्दकी सीमा नहीं थी। वह अपने परमपिता विश्वेश्वरके यहाँ (अपने वास्तविक घरमें) पहुँच गया था। उसने क्षुधा-पिपासाकी चिन्ता छोड़कर, सारे कष्टोंको सहते हुए एक अशोक वृक्षके नीचे तपश्चर्या आरम्भ कर दी। उसने नेत्र बंद कर लिये और हृदयमें अपने आराध्यदेवकी मनोहर मूर्तिका ध्यान करते हुए वह उनके मङ्गलमय नामका जप करने लगा। उसे भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी—किसीकी तनिक भी चिन्ता नहीं रह गयी। 'या तो मेरे परमाराध्य परमपिता परमेश्वर भगवान् शिव मुझे दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे या यह नश्वर शरीर नष्ट हो जायगा'—हरिकेशने यह दृढ़ निश्चय कर लिया था। इस प्रकार तप करते उसे अधिक दिन बीत गये। उसका शरीर सूखकर अस्थिमात्र शेष रह गया था। केवल श्वास चल रहा था।

एक दिनकी बात है। भगवान् शंकर अपनी प्राणप्रिया पार्वतीजीके साथ काशीका माहात्म्य-गान करते हुए वहाँ पहुँचे, जहाँ पूर्णभद्र एवं कनककुण्डलाका

योग्यतम पुत्र परम शिवभक्त हरिकेश अपने प्रभुकी प्रीति-प्राप्तिके लिये प्राणपर खेलकर कठोर तप कर रहा था ।

दयामयी पार्वतीजीके संकेतपर सर्वलोकैकहेतु, महामहेश्वर कृपासिन्धु कल्याणमय शिवने हरिकेशका अपने वरद करकमलोंसे स्पर्श किया ।

'त्रिशूलपाणे ! आपकी जय हो ।' हरिकेशका शरीर पहलेसे भी अधिक स्वस्थ, सुन्दर एवं दीप्तिमान् हो गया । उसके आनन्दकी सीमा नहीं थी । उसके मुँहसे स्वतः निकल पड़ा, 'कृपालो ! आपकी जय हो ! जय हो !! आपके परमकल्याणमय करकमलके स्पर्शसे आज मैं धन्य हो गया । मेरा जीवन कृतार्थ हो गया ।'

अपने भक्त हरिकेशके श्रद्धापूर्ण वचन सुनकर भगवान् शंकरने कहा—"हरिकेश ! मैं तुम्हारी तपस्यासे संतुष्ट हो गया । अब तुम मेरे प्रिय क्षेत्र काशीधामके दण्डनायक होओ । तुम्हारा नाम 'दण्डपाणि' होगा । मेरे समस्त गण तुम्हारे अधीन रहेंगे । सम्भ्रम और उद्भ्रम नामक गण सदा ही तुम्हारा अनुगमन करेंगे । तुम काशीमें निवास करनेवाले प्राणियोंके अन्न, प्राण, ज्ञान तथा मेरे मुखसे निकले हुए तारक-मन्त्रके उपदेशसे मोक्षके एकमात्र वितरक होकर वहाँ अविचल निवास करोगे । तुम मेरे नेत्रोंके सम्मुख दक्षिण दिशामें निवास करो और पापियोंको दण्डित तथा भक्तजनोंको निर्भय करते रहो । काशी आकर मेरे भक्त मेरी पूजासे पहले तुम्हारी पूजा करेंगे ।"

भगवान् शंकर माता पार्वतीके साथ चले गये और तभीसे दण्डपाणि काशीपुरीमें बाबा विश्वनाथके समीप रहते हुए वहाँका शासन करते हैं ।

दीप-साक्षित्व

(लेखक—श्रीहरिकिशनदासजी अग्रवाल)

जब मिट्टीका दिया तेल तथा बत्तीसे तैयार होता है, तब उसे दियासलाईसे जलानेपर उसके अंदर प्रकाश हो जाता है ।

दिया जहाँ भी रहेगा, वहीं प्रकाश करेगा—वह चाहे महल हो, चाहे फकीरकी झोंपड़ी, चाहे वह दीवालीके दिन अन्य दियोंके साथ जगमगा रहा हो, चाहे श्मशानमें अकेला हो । उसका वातावरणसे कोई सम्बन्ध नहीं; वह जहाँ भी रहता है, प्रकाश ही करता है । जंगल हो, श्मशान हो अथवा राजमहल । उसके प्रकाशमें कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

साक्षी भी इसी प्रकार प्रकाश ही है । साक्षित्व जहाँ भी रहेगा, प्रकाश ही करेगा । उसका काम है, देखना । उसका न किसीसे लगाव है, न बिलगाव । वह तो तटस्थभावसे केवल देखता है ।

साक्षीको चाहे राजसिंहासनपर बैठा दो, चाहे उसे उद्योगपति बना दो अथवा साधु-संत या फकीर बना दो—स्थितिकी भिन्नताने उसमें कोई भिन्नता नहीं आती । उसके सामने वृक्ष हो तो वह वृक्षका साक्षी है, यदि कोई अन्य वस्तु, व्यक्ति या सम्पत्ति है तो वह उसका साक्षी है ।

साक्षीकी स्थिति वैसी ही है, जैसे कोई चील बहुत ऊँच उड़ान लेकर हवामें तैरती रहती है; उसे पंख भी हिलानेकी आवश्यकता नहीं । उसके उड़नेमें कोई प्रयोजन नहीं, वह निष्प्रयोजन आकाशमें उड़ती रहती है ।

तुलसी-साधना-कुटीरमें एक बोर्ड लगा हुआ है । उसके पास मेरी पौत्री फूल तोड़ रही थी । मैंने उससे कहा—"देखो, वह बोर्ड लगा है एवं उसपर लिखा है कि 'फल-फूल तोड़ना मना है' ।"

वह बोली—'यह बोर्ड कुछ कहता या करता भी है ?'

मैंने कहा—"नहीं, इसका काम केवल सूचना देना ही है । यह तटस्थ होकर खड़ा रहता है और लोगोंको इससे प्रेरणा मिलती रहती है कि 'फल-फूल मत तोड़ना' ।"

कहीं-कहीं खेतोंमें एक मनुष्याकार बाँसको खड़ा करके एक आकृति बना देते हैं, उसके ऊपर मुँह लगा देते हैं, ताकि पशु-पक्षी उसे देखकर खेतमें न जायँ; वह साक्षी होकर खेतमें केवल खड़ा रहता है । वह न कुछ कहता है न करता है; किंतु उसका खड़ा रहना ही खेतकी सुरक्षामें सहायक है ।

देखनेमें बड़ा बल है। यदि किसी पाकेटमारको पता चल जाय कि 'किसीने मुझे देख लिया है' तो वह पाकेट काटनेका कुकर्म नहीं कर पायेगा। देखनेवालेने कुछ कहा नहीं, किंतु देखनाभर ही उसे कुकर्मसे रोकनेमें पर्याप्त है।

एक बार कुम्भके अवसरपर एक पाकेटमार भीड़में जा रहा था। हमारे साथ एक सरदारजी थे, जिन्होंने उसे पहचान लिया और मेरा कंधा दबाकर बोले—'देखो, यह पाकेटमार जा रहा है।' उसने इस इशारेको समझ लिया, जिससे वह सावधान हो गया। फिर जबतक वह हमारे सामने रहा, उसे पाकेट काटनेकी हिम्मत नहीं हुई।

एक बार तुलसी-साधना-कुटीरमें एक मेहमान ठहरे थे। रातको १२ बजे उन मेहमानके खीसेमेंसे बटुवा निकालनेके लिये किसी चोरने हाथ डाला; इतनेमें मेहमानने करवट बदली, जिसके साथ ही चोर भाग गया। इसी प्रकार जब हम जाग जाते हैं, तब हमारे अंदरसे विकार भाग जाते हैं। विकार रहते ही तबतक हैं; जबतक हम जागते नहीं।

चोर तभी चोरी करता है, जब उसे कोई देखता नहीं। जब उसे कोई देख लेता है, तब फिर वह चोरी नहीं करता।

'साक्षित्व' जाग जाना है। जब हमारी वृत्तियाँ, हमारे विचार और विकार हमारे साक्षित्वके प्रकाशके अंदर आ जाते हैं, तब विकार, विकार न रहकर विलीन होने शुरू हो जाते हैं।

दिया तेलकी स्निग्धताके कारण ही जलता है। इसी प्रकार मनुष्यके हृदयमें प्रेमरूपी स्निग्धता है, जिससे वह प्रकाशमय रहता है। दियेके अंदर जब भी प्रकाश होगा, बत्तीके द्वारा ही होगा। मनुष्यके अंदर भी जब ज्ञान होगा, तब वृत्तिके अंदर ही होगा। वृत्ति ही व्याप्त होकर ब्रह्माकार हो जाती है। वृत्ति परिच्छिन्न न रहकर अपरिच्छिन्न, एकदेशीय न रहकर सर्वदेशीय हो जाती है।

दियेकी बत्तीका प्रकाश सर्वत्र फैल जाता है। जबतक वह बत्ती जली न थी, तबतक एकदेशीय थी; ज्यों ही वह प्रकाशित होती है, प्रकाश व्यापकरूपमें फैल जाता है।

पर्वतों एवं जंगलोंमें देखा गया है कि किसी कुटियाके अंदर यदि दीपक या लालटेन जल रही हो तो उसका वह प्रकाश दो या चार कोससे दिखायी पड़ता है; यही उस प्रकाशकी व्यापकता है।

एक सूईको लेकर जब हम आगमें डाल देते हैं, तब पहले तो वह अलग दिखायी देती है; पर जब वह गर्म होकर लाल हो जाती है, तब अग्निरूप हो जाती है, अर्थात् अग्निसे व्याप्त हो उससे अभिन्नता प्राप्त कर लेती है। यही वृत्ति-व्याप्ति है।

वृत्तिव्याप्तिसे वृत्ति तदाकार हो जाती है, वृत्ति ब्रह्मसे अभिन्न हो जाती है। वह सूईकी तरह अपना अस्तित्व खो, अग्निरूप हो जाती है।

अदालतमें साक्षीको खर्च देकर सम्मानपूर्वक बुलाया जाता है; साक्षीके ऊपर बड़े-बड़े मुकद्दमोंका दारोमदार रहता है। मुकद्दमेके दौरान वादी-प्रतिवादीके हृदयमें मुकद्दमेके परिणामके बारेमें अत्यधिक चिन्ताके कारण धड़कन पैदा हो जाती है; किंतु साक्षी निर्भीकतापूर्ण अदालतमें बैठता है तथा मुकद्दमेसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता—ठीक जिस प्रकार दीपकका किसी वस्तु अथवा व्यक्तिसे कोई लगाव नहीं होता।

दियेकी तरह साक्षी प्रकाशरूप है; साक्षीको घटनाका ज्ञान तो है, पर उसके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं। उसकी उपेक्षा-वृत्ति है, वह तटस्थ है, समीपवर्ती है और बोद्धा है।

मनुष्यके अंदर प्रकाश कर रहा साक्षी भी मनके अंदर उठते हुए विचारोंका बोद्धा है; वह दूसरोंसे तो अपने विकारोंको छिपा सकता है, पर अपनेसे नहीं; क्योंकि वह समीपवर्ती है, उससे अधिक समीप कोई है नहीं; और वह तटस्थ भी है, उसका किसीसे लगाव भी नहीं। यह है विशेषता साक्षीकी, जो दियेके प्रकाशके तुल्य सबको प्रकाश देता है।

मोती काका

(लेखक—श्रीरामेश्वरजी टाँटिया)

हमारे गाँवमें बाहरसे साधु-महात्मा आते रहते थे। उनके प्रवचनोंके समय देखा जाता कि एक वृद्ध नियमितरूपमे सबसे पहले आता और सबके बाद जाता है। लोगोंकी जूतियोंके पास बैठकर वह हाथमें माला लिये जाप करता रहता था। आयु प्रौढ़ावस्थाको पार कर चुकी थी; परंतु शरीरकी काठी देखकर अनुमान होता था कि किसी समय वह बहुत सुन्दर और बलवान् रहा होगा। गोरे चेहरेपर झुर्रियाँ थीं, परंतु आँखोंमें तेजकी चमक थी।

बच्चोंसे उसे ऐसा प्यार था कि सारे दिन वे उसे घेरे रहते; कोई दाढ़ी खींचकर भाग जाता तो कोई पीठमें धौल जमाकर।

पत्नी-पतोहुओं और पोते-पोतियोंसे भरा-पूरा घर था। दो जवान लड़के फौजमें थे। गाँवके पास ही खेत थे, जिनसे अच्छी आय हो जाती थी।

लोग कहते थे कि किसी समय मोती काका नामी डाकू था। उसने सैकड़ों डाके डाले थे, परंतु ब्राह्मण या गाँवकी बहिन-बेटीको कभी नहीं लूटा—यहाँतक कि ब्राह्मणोंकी बेटियोंके विवाहमें अपने आदमियोंके द्वारा दान-दहेज भेजता रहता था।

शुरु-शुरुमें तो हम बच्चे उससे सहमे-से रहते। परंतु कुछ अर्से बाद इस प्रकार हिल-मिल जाते कि उसके कंधोंपर चढ़कर नाचते रहते। यद्यपि उस समय डाकू क्या है, इसके बारेमें स्पष्ट जानकारी हमें नहीं थी, फिर भी ऐसा समझते थे कि वह कोई खराब बात है। काकासे इसके बारेमें पूछनेपर वह हँसकर बात टाल देता। कभी-कभी दोनों हाथोंसे आँखोंको बड़ी-बड़ी करके डराने लग जाता।

उस बार, बहुत वर्षोंतक बाहर रहनेके बाद गाँवमें आया था। मोती काका ७५-८० वर्षका हो गया था, चल-फिर नहीं सकता था। हाथ-पैर काँपने लगे थे, परंतु आँख-कान दुरुस्त थे। बचपनमें जब हम उससे कहानियाँ सुनते थे, तब मैं कहा करता था कि 'हम बड़े होंगे, तब तुम्हारे लिये एक अच्छी-सी ऊनी चद्दर लायेंगे।' वह बात मुझे याद रही और धारीवालकी एक चद्दर उसके लिये ले गया था।

उन दिनों काकाकी गाँधीजीके दर्शन करनेकी प्रबल इच्छा थी। हमारे उधर, राजस्थानके गाँवोंमें, उनके बारेमें बहुत-सी किंवदन्तियाँ फैली हुई थीं, जैसे 'उनको भगवानके साक्षात् दर्शन होते हैं', 'जेलके फाटक अपने-आप खुल गये', 'चोर-डाकू भी उनके सामने जाकर सच्ची बात कहनेसे पापमुक्त हो जाते हैं'—आदि।

काकाका शरीर इतना अस्वस्थ रहने लगा कि उस इच्छाकी पूर्ति नहीं हुई। परंतु उन्हीं दिनों हरिद्वारसे एक बड़े महात्मा अपने कई शिष्योंके साथ गाँवमें आये। मोती काकाने बड़े आग्रहपूर्वक उनको निमन्त्रित किया और साथ ही गाँवके दूसरे प्रतिष्ठित व्यक्तियोंको भी।

भोजनके पहले काकाने सैकड़ों आदमियोंके सामने हाथ जोड़कर कहा—"मेरा अन्त-समय अब नजदीक है। जीवनमें मैंने जघन्य पाप किये हैं। मुझे कल रातमें सपना आया है कि 'तुम महात्माजी और गाँवके लोगोंके समक्ष अपने पापोंको स्वीकार करो, इससे तुम्हें शान्ति मिलेगी'।" उसने अपने जीवनकी जो घटनाएँ बतायीं; उन्हें सुनकर भी मैं यह निश्चय नहीं कर सका कि वह पापी है या धर्मात्मा।

मोती काकाने अपनी जीवन-गाथा इस प्रकार सुनायी—

"मैं अपने माँ-बापका इकलौता बेटा था। विवाह होकर बारात वापस आयी थी। अभी कंगन-डोरे भी नहीं खुले थे कि गाँवका महाजन अपने कर्जके तकादेके लिये आकर बैठ गया।

"उन दिनों कर्ज न चुकानेपर कैदकी सजा होती थी। बहुत-से सगे-सम्बन्धियोंके बीच बापूको पुलिसके सिपाही हथकड़ी डालकर ले गये। उस दिनके बाद तो शर्मके मारे मेरा घरसे निकलना दुश्वार हो गया।

"मैंने प्रतिज्ञा कर ली कि 'जैसे भी होगा, कर्ज चुकाकर पिताको जेलसे छुड़ाऊँगा'।

"बहुत प्रयत्न करनेके बावजूद भी काम नहीं मिल पाया। संयोगसे मेरी जान-पहचान प्रसिद्ध डाकू ठाकुर

रामसिंहके साथियोंसे हो गयी और मैं उनके दलमें शामिल हो गया। हिम्मत, सूझ और शारीरिक बलके कारण रामसिंहके मरनेके बाद दलका मुखिया मुझे ही चुना गया।

"मैं कर्जसे दुगुना रुपया लेकर एक रातको सेठके घर पहुँचा। उसके प्रति मेरे मनमें ऐसी घृणा हो गयी थी कि कर्ज-चुकतीकी रसीद लेकर लौटते समय मैंने उसके नाक-कान काट लिये। उसके बाद मैंने सैकड़ों डाके डाले; पर परमात्मा जानता है कि मैंने कभी ब्राह्मणों और गाँवकी बहू-बेटियोंको नहीं सताया, न गरीब और निम्नवर्गके लोगोंको ही।

"मुझे प्रायः खबरें मिलतीं कि मेरे माँ-बापको नाना प्रकारकी यातनाएँ दी जा रही हैं। एक दिन यह भी सुना कि मेरी पत्नीको थानेमें बंद कर रक्खा है और उसके साथ बहुत अमानुषिक बर्ताव किया जा रहा है।

"एक अँधेरी रातमें अपने १०-१२ साथियोंके साथ मैंने उस पुलिस चौकीपर हमला कर दिया। ८-१० सिपाही और अफसर मारे गये, हमारे भी ३-४ साथी खेत रहे। पत्नी दर्दसे कराह रही थी। उसकी हालत देखकर मन लज्जा और ग्लानिसे भर गया; परंतु पासके थानोंसे कुमुक पहुँचनेके अंदेशेसे भागकर हमें जंगलमें जाना पड़ा।

"माँ-बाप और पत्नीकी दुर्दशाके समाचारोंसे मैं रात-दिन बेचैन रहने लगा। उधर पुलिसकी सतर्कता बहुत ज्यादा बढ़ गयी।

"मुझे जिंदा या मरा हुआ पकड़ा देनेपर सरकारद्वारा १०,०००) रुपये इनामकी घोषणा की गयी।

"गाँवके एक गरीब ब्राह्मणकी बेटीका विवाह रुपयेके बिना अटक रहा था। मेरे पास रुपयोंकी व्यवस्था उस समय थी नहीं। समय कम था, मैं पशोपेशमें पड़ गया कि कैसे मदद करूँ। मुझे सरकारी घोषणाकी बात याद आ गयी। मगर मेरे साथी इसके लिये तैयार नहीं हुए। आखिर, मैं अकेला ही उस ब्राह्मणके पास गया और समझाया कि 'मुझे थानेमें हाजिर करनेसे उसे १०,०००) रुपये मिल जायँगे।'

"पहले तो वह तैयार नहीं हुआ, परंतु बहुत समझाने-बुझानेपर मान गया।

"विभिन्न अपराधोंमें मुझे १५ वर्षकी कड़ी कैदकी सजा हुई। परंतु मेरे अच्छे चाल-चलनके कारण १० वर्षमें ही छोड़ दिया गया।

"अब उन बातोंको प्रायः २५-३० वर्ष हो गये हैं, परंतु मेरे मनमें अपने पुराने पापोंकी यादसे अब भी ग्लानि और लज्जा भरी पड़ी है। कहते हैं कि परमात्माके भक्तोंकी सेवा करनेसे जघन्य पाप भी दूर हो जाते हैं; इसलिये कथा-वार्तामें आनेवालोंकी जूतियोंकी सँभाल रखता हूँ। बहिन-बेटियोंके बच्चोंको बहलाता रहता हूँ।......"

काकाकी बातें सुनकर लोगोंके साथ-साथ महात्माजी भी हर्षसे गद्गद हो गये। उन्होंने उठकर उसे छातीसे लगा लिया।

भज मन श्रीराधे-गोपाल

भज मन श्रीराधे-गोपाल।
करुनानिधि कोमल चित तिन को, दीनन को प्रतिपाल॥
जिन को ध्यान कियें सुख उपजै, दूर होत दुख-जाल।
माया रहत चरन की चेरी, डरपत जिन सों काल॥
विहरत श्रीवृंदावन माँहीं, दोउ गल बैयाँ डाल।
विलसत रास-विलास, रँगीले गावत गीत रसाल॥
हँस-हँस छीन लेत मन छल कर चंचल नैन विसाल।
सरसमाधुरी सरनागत कों छिन में करें निहाल॥

—रसिक संत सरसमाधुरीजी

प्रार्थनासे क्यों, कैसे और क्या लाभ होते हैं ?

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

आजकल प्रार्थनाको गलत समझा जा रहा है। बीसवीं सदीके समुन्नत समझे जानेवाले सुशिक्षित युवकोंकी दृष्टिमें भगवान्की प्रार्थना एक दिखावटी ढकोसला, एक विडम्बना, खाने-पकाने, ठगने-ठगानेका एक धंधामात्र है। भौतिकवादी समाज इस आध्यात्मिक शक्तिको जगानेमें विश्वास नहीं करता। हवाई-जहाजमें इंजिन चलानेवाला, हाथ या परमाणु-बमद्वारा सृष्टि-विध्वंस कर देनेवाला वज्र-हृदय किसी दैवी शक्तिके प्रति विनीतरूपसे दयाकी माँग लेकर नहीं उठ पाते!

नवीन रक्त स्वभावतः विद्रोही होता है। वह विवेकको छोड़ उद्वेग और उत्तेजनामें विश्वास रखता है। वह प्रत्येक दिशामें नयी क्रान्ति, नये परिवर्तन, नयी सृष्टि चाहता है। उसकी दृष्टि नितान्त भौतिक है। वह आध्यात्मिक जीवनमें कोई दिलचस्पी नहीं रखता। मन्दिर और गुरुद्वारेको एक ढकोसला मानता है। ईश्वरकी दैवी शक्ति तथा उससे होनेवाले चमत्कारोंमें उसे कोई विश्वास नहीं है। वे अपने आपको इतना मजबूत समझते हैं कि प्रार्थनाद्वारा भगवान्से कुछ भी याचना नहीं करना चाहते। आजका उच्छृङ्खल युवक प्रार्थनाको एक प्रलापमात्र मानता है।

यह उपेक्षा नास्तिकोंकी मिथ्या शेखी ही कही जायगी। ईश्वरीय शक्तिके प्रति अविश्वास एक दम्भ है, भौतिक शक्तियोंका अभिमान है, धूलमें मिला देनेवाला संकुचित स्वार्थ है। प्रार्थनाका अभिप्राय ही गलत समझा जा रहा है।

साधारण लोग समझते हैं कि प्रार्थनाका अभिनय कर हम परमपिता परमेश्वरको फुसला सकते हैं, बच्चोंकी तरह मीठी-मीठी बातें करके इस परमचतुर सत्ताको लुभा सकते हैं। यह दृष्टिकोण गलत है।

प्रार्थना मनका मोदक नहीं है। जो व्यक्ति बिना परिश्रमके मुफ्तका माल उड़ानेकी फिक्रमें हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि ईश्वर न्यायी है। वह परिश्रमीको प्यार करता है। प्रार्थना एक प्रकारका आध्यात्मिक पुरुषार्थ ही है। कर्मण्यता, जागरूकता, घोर परिश्रम और योग्यतासे भरी हुई प्रार्थना ही सफलताके वरदान उपस्थित करती है; किंतु मजबूरीसे अधिक माँगनेवाले मुफ्तखोरके मंसूबे आमतौरपर पूर्ण नहीं होते। आलसियों, स्वप्नद्रष्टाओं, व्यर्थ ही खाने-पीने और मौज उड़ानेवालोंके गिड़गिड़ाने, नाक रगड़ने या भीख माँगनेकी ओर ईश्वर किंचित् भी ध्यान नहीं देता।

प्रार्थना एक आध्यात्मिक व्यायाम है

डॉ० दुर्गाशंकर नागरके मतानुसार प्रार्थनाके ये तीन प्रयोजन हैं—

१—"सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिके हेतु या किसी स्थूल अभावकी पूर्तिके लिये प्रार्थना की जाती है—जैसे अन्न, वस्त्र, नौकरी, धन, स्त्री-पुत्र-प्राप्तिके लिये, रोग-निवारणके लिये, किसी दुःखसे पीछा छुड़ानेके लिये, आपत्ति दूर करनेके लिये, सम्मान-प्राप्तिके लिये, परीक्षामें सफलता प्राप्त करनेके लिये, विद्या-प्राप्तिके लिये और समस्त व्यावहारिक कार्योंकी सिद्धिके लिये प्रार्थना की जाती है।

२—"आत्मिक उन्नतिके लिये, काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि मानसिक विकारोंपर जय प्राप्त करनेके लिये; आत्मा क्या है, ईश्वर क्या है, मृत्यु क्या है, मृत्युके बाद क्या होता है, सृष्टि क्या है—इत्यादि विषयोंका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये, मानसिक और बौद्धिक उन्नतिके लिये, अध्यात्मज्ञान और यथार्थ साधन जाननेके लिये प्रार्थना एक उपाय है।

३—"तीसरे प्रकारके वे सच्चे प्रार्थना करनेवाले भक्त होते हैं, जिन्हें कुछ माँगना नहीं है। वे केवल उस महाप्रभुके ध्यान और प्रेममें लीन होना चाहते हैं। ईश्वर-दर्शन या आत्म-साक्षात्कार ही उनका लक्ष्य है। यह सर्वोत्कृष्ट प्रार्थना है।"

ऊपर डा० दुर्गाशंकर नागरके विचार स्पष्ट किये गये हैं। उनमें गहरा अनुभव निहित है। इनके अतिरिक्त प्रार्थना करनेके और भी अनेक लाभ हैं।

प्रार्थनाके लाभ

जिस प्रकार जप, पूजन, अर्चन, पाठ, हवन, अनुष्ठान

हैं या मनःसंयम, आत्मसंयम मनोजयके विभिन्न मार्ग हैं, उसी प्रकार प्रार्थना भी एक प्रकारका सुव्यवस्थित आध्यात्मिक व्यायाम है ।

जिस तरह डंड, मुगदर, डम्बल इत्यादिकी कसरतोंसे मनुष्यका हाड़-मांसवाला शरीर पुष्ट होता है, उसके वदनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुदृढ़ होकर नीरोगता, सौन्दर्य, परिश्रमकी क्षमता, उपार्जन-उत्पादन आदिकी समृद्धियाँ हाथ लगती हैं, उसी प्रकार आध्यात्मिक व्यायामसे मनुष्यका मनोबल सुदृढ़ होता है; उसका आत्मविश्वास, आत्मश्रद्धा और इच्छाशक्ति विकसित होती हैं । उसका सांसारिक प्रपञ्चोंसे कलुषित हुआ मन धुलकर स्वच्छ एवं पूर्ण पवित्र हो जाता है ।

प्रार्थना करनेसे चित्तमें सुव्यवस्था, मनुष्यके मनमें संतुलन, बुद्धिमें तीक्ष्णता और विवेककी जागृति होती है । आध्यात्मिक क्षेत्रमें उन्नति होती है । यह आत्म-परिष्कारका अमोघ उपाय है ।

जीवनको सारे दिन शान्ति और उत्साहसे व्यतीत करनेके लिये प्रार्थना अतीव उपयोगी साधन है । इससे हमारी आत्माकी उन्नति होती है । आध्यात्मिक उन्नतिमें जो बाधाएँ हैं, वे दूर हो जाती हैं । यह मानसिक शान्तिका एक उपाय है ।

मनोवैज्ञानिकोंके अनुसार मनुष्यका अन्तर्मन (Sub-conscious mind) बड़ा सशक्त तत्त्व है, जो हमारे समग्र जीवनको चलाता है । अन्तर्मनका हमारे जीवन, नाना क्रियाओं और स्वास्थ्यपर बड़ा प्रभाव पड़ता है । प्रार्थनाद्वारा दैवी सहायता मिलनेके कारण आशाकी पीठ बहुत भारी हो जाती है । प्रार्थना करनेसे हमारा सीधा सम्बन्ध ईश्वरसे जुड़ जाता है । फल यह होता है कि आशा, उल्लास, सफलता, साहसके सशक्त विचार मनुष्यके मस्तिष्कमें घनीभूत होकर घुमड़ने लगते हैं ।

प्रार्थना उत्तम विचारोंको जमानेके लिये मनोभूमिको उर्वर बनाती है । जो सैनिक प्रार्थना करके कर्त्तव्यपूर्तिमें लगते हैं, उन्हें साहसपूर्ण मनःस्थितिके कारण युद्धके मोर्चे-पर फतह हासिल होती है ।

प्रार्थना प्रायश्चित्तका उपाय है

जब मनुष्य अपने पापपर हार्दिक रूपसे पछतावा करता है, तब उसे बड़ा दुःख होता है । वह अपने संचित पापोंसे मुक्त होना चाहता है, आत्मापर संचित गंदगीको धो डालना चाहता है । इस प्रायश्चित्तको सम्पन्न करानेमें प्रार्थना शर्तिया उपाय है ।

प्रार्थना तरह-तरहकी चिन्ताओं, व्याकुलताओं, रोगों, व्याधियों और अपनेद्वारा हुई गलतियोंको धो डालनेका सुलभ साधन है । यह हमारे अभिमानके मिथ्यात्वको मिटा देनेवाली महौषध है ।

प्रार्थनाके शब्दोंद्वारा जो-जो सद्भावनाएँ, ऊँची इच्छाएँ प्रकट की जाती हैं, उनसे एक प्रकारका आध्यात्मिक प्रवाह (Spiritual current) फैलने लगता है । सच्चे प्रार्थीके इर्द-गिर्दका समस्त वातावरण पवित्र—शान्ति तथा दिव्य प्रेमसे पवित्र हो उठता है ।

श्रीयुत रमाशंकर शुक्लकी सम्मतिमें 'जीवनके प्रारम्भके साथ होनेवाली प्रार्थना एक आशीर्वाद है और जीवनकी समाप्तिके साथ की जानेवाली प्रार्थना उस आशीर्वादके प्रति हार्दिक कृतज्ञता है । इन दोनोंके मध्यमें जीवनका विशाल कार्यक्षेत्र है ।

"जब पवित्रता तथा दिव्यताके ये सुमधुर क्षण क्रम-क्रमसे हमारी एक-एक पुकारके साथ हृदयमें नक्षत्रोंकी तरह चमकने लगते हैं, तब अन्धकार भी हमें सुहावना प्रतीत होने लगता है । उस समय निराशाका तमिस्र भी हमारे लिये सौन्दर्यमय हो जाता है ।

"कभी-कभी हमारी साधना जीवनके घोर अन्धकारमें उस आदिस्रोत ईश्वर, उस दिव्यताका दर्शन पानेके लिये व्याकुल हो उठती है, जो हमारी आत्माका उद्गमस्थान है । तब आशाका एक क्षण आता है, जब निराशाकी कालिमा गायब हो जाती है । हमारी अन्धकारमयी भावना चन्द्रिकाके मृदुल हास्यसे उल्लसित हो उठती है, तब ईश्वरीय ज्योतिकी एक रश्मिका दर्शन होता है । वह हमारी प्रार्थनाकी शुभ ज्योति है, वह हमारी श्रद्धाका पुण्यफल है ।" इस प्रकार सच्ची प्रार्थना हमारे जीवनको पवित्रता और दिव्यतासे भर देती है ।

आध्यात्मिक क्षेत्रमें प्रार्थनाका स्थान

अंग्रेज कवि टेनिसनने सच ही कहा है कि 'बिना प्रार्थनाके मनुष्यका जीवन पशु-पक्षियों-जैसा शुष्क, नीरस और अन्धकारमय है।' हमारा सांसारिक जीवन द्वन्द्व, द्वेष, छल, छद्म, ईर्ष्या, मत्सरसे विषैला हो उठा है। हम क्रोधके आवेशमें लगातार जलते रहते हैं। सैकड़ों तृष्णाओंकी ओर दौड़ते रहते हैं। कामुकता हमें विषयोंकी ओर खींचकर पतनोन्मुख बनाती रहती है। हम विवेकहीन होकर नये काल्पनिक सुखोंकी ओर भागते रहते हैं। इस प्रकार हमारा मन मलिन पदार्थोंसे गंदा हो उठा है।

उस मानसिक मलको धोकर स्वच्छ करनेकी बड़ी आवश्यकता है। वासना, अहंकार, तृष्णा, लालच आदि आसुरी विकारोंसे मुक्त होनेके लिये हमें अपनी आत्माके सद्गुणोंको जगाने और विकसित करनेकी जरूरत है। दैवी भावनाओंको प्रदीप्त करने और आत्माका प्रकाश फैलानेके लिये प्रार्थना ही सर्वोत्कृष्ट साधन है। जब मनुष्य ईश्वरको अपने सम्मुख मान, अपने दोष स्वीकार कर आत्मासे करुण पुकार निकालता है, तब उसे आन्तरिक शान्ति प्राप्त होने लगती है। आसुरी विकार धुल जाते हैं। विनम्रता, करुणा, दया, क्षमा, सहानुभूति आदि गुण प्रार्थनाके द्वारा ही विकसित होते हैं।

अहंकारसे मुक्तिके लिये मनुष्यको किसी बड़ी सत्ताके सम्मुख विनम्र होना पड़ेगा। सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ईश्वर सर्वशक्तिमान् सत्ता है। विनम्रतापूर्वक उस सर्वशक्तिमान्को आत्मसमर्पण करनेसे मिथ्या गर्व नष्ट हो जाता है। प्रार्थनासे करुणाकी निर्मल भावनाएँ प्रखर हो जाती हैं।

प्रार्थनामें हम ईश्वरके गुणोंका स्मरण करते हैं। दया, प्रेम, उदारता, दान, संयम, सदाचार, पुण्य, परमार्थ-जैसे सद्गुणोंके स्मरणसे हममें आस्तिकताकी भावनाएँ जागती हैं। हमारी आसुरी दुष्प्रवृत्तियाँ रोगके कीटाणुओंकी तरह नष्ट हो जाती हैं।

प्रार्थना तो भगवान्से वार्तालाप करनेकी एक आध्यात्मिक प्रणाली है। प्रार्थनामें प्रार्थीका हृदय बोलता है, विश्वहृदय (ईश्वर) सुनता है। जिस आत्मशक्तिसे यह अनन्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न, लालित-पालित हो रहा है, उससे तादात्म्य स्थापित करनेका एक उपाय हमारी सच्ची प्रार्थना है। सच्चे आर्त्त हृदयकी करुण पुकार ईश्वर सुनता है और उसका उत्तर भी देता है।

आध्यात्मिक उन्नतिके लिये प्रार्थना अनिवार्य है। इस अन्धकारावृत संसारमें काम-क्रोध, लोभ-मोह आदि विकार सच्ची प्रार्थनासे ही धोये जा सकते हैं। सच्ची प्रार्थनासे मानसिक भार हलका होता है, सत्-ज्ञानका उदय होता है, अन्धकारमय हृदयमें प्रकाश होता है। अतः अपने दैनिक जीवनमें प्रार्थनाको अवश्य स्थान दें।

प्रार्थना

मुझे प्रभु ! दो वह सुन्दर स्थान।
जहाँ गा सकूँ सरस तुम्हारा मैं अचिन्त्य यश-गान॥
जहाँ न हो मानापमानका तनिक भी नहीं भान।
जहाँ न हो स्तुति-निन्दा प्रिय-अप्रियका तनिक विधान॥
जहाँ न हो बँटवारेको कुछ धन-धरणी-सामान।
जहाँ न हो नकली पर्दा, जो झूठ दिखावै शान॥
जहाँ सत्य नित रहे प्रकाशित, बिना बाहरी वेष।
जहाँ प्रेमका शुद्ध सुधा-रस बहता रहे अशेष॥
जहाँ सरल शुभकी धारामें सब बह जाय भदेस।
जहाँ भरा हो भगवदीय भावोंसे सारा देश॥

—भाईजी (श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

परहित बस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥

(लेखक—श्रीमोरेश्वर सीताराम पिंपले)

जिसके मनमें परहित प्रतिष्ठित रहता है, उसके लिये जगत्‌में कुछ भी दुर्लभ नहीं है—यह मानव-जीवनका मथित सत्य है । समस्त विश्वका इतिहास इस ध्रुव सत्यकी उद्घोषणा मुक्तकण्ठसे कर मानव-जीवनकी सफलताके रहस्यका उद्घाटन कर रहा है। फिर भी मूढ़ मनुष्य इतिहासके इस अमर संदेशकी अवहेलना कर अपने संकुचित स्वार्थके पचड़ेमें ही अपना दुर्लभ मानव-जीवन व्यर्थ ही गँवा देता है। अपने निजकल्याणका प्रशस्त मार्ग देखते-जानते-समझते हुए भी तत्कालके क्षणिक सुखके लोभमें भौतिक सुखोंके चक्करमें पड़कर सुखी जीवनके राजमार्गका त्याग कर स्वार्थ-लोलुपतामें फँसता है और अपना समस्त जीवन दुःखमय बना लेता है। वह अपने हाथों अपने पैरोंपर कुल्हाड़ी चलाता है।

मनुष्य प्रभु-सृष्टिका शृङ्गार है । विश्वकी सृष्टिमें सृष्टिकर्ता जगन्नियन्ता प्रभुने मानवकी रचनामें ही विशेष ध्यान देनेका अनुग्रह किया है। मनुष्य-शरीरमें दयालु प्रभुने ववेकरूपी अमोघ अस्त्रकी रचना की है। मनुष्यका विवेक प्रभुप्रदत्त ऐसा अलौकिक यन्त्र है—ऐसा अनोखा बेरोमीटर है, ऐसा विश्वस्त मित्र है, जो मनुष्यकी हर पलमें कृपामार्गसे रक्षा करता है और उसके कल्याणका सफल एवं सुखी जीवन-का राजमार्ग प्रशस्त करता जाता है। यदि मनुष्य परमपिता-प्रदत्त इस अलौकिक देनका—अपने विवेकका ही सम्मान एवं सदुपयोग करे और विवेक-दर्शित मार्गका ही जीवनमें अनुसरण करे तो विश्वमें कोई सामर्थ्य नहीं, जो उसका बाल भी बाँका कर सके। उसका कल्याण, उसका सफल-सुखी जीवन उसी तरह सुनिश्चित है, जैसा कि दिनके बाद रातका होना। इसमें अगर-मगरको कोई स्थान ही नहीं। यह तो भौतिक विज्ञानका विधान नहीं, वरं उस महान् वैज्ञानिक विश्वसंचालक सृष्टिकर्ता परमेश्वरका विधान है।

'परोपकाराय इदं शरीरम्'—विश्व-रचयिता परमात्मा-का मानवनिर्माणका प्रयोजन यही है कि मनुष्य संसारमें जाकर विश्वकल्याणमें रत रहे। अथवा दुर्लभ मनुष्य-जीवन परहितके पावन यज्ञमें ही समर्पित करे। इसी ध्येयसे, इसी लक्ष्यसे, सृष्टिकर्ता परमात्माने मनुष्यशरीरमें परहितकी सम्पूर्ण क्षमता प्रदान की है, समस्त साधन जुटा दिये हैं। किंतु मूढ़ मनुष्यने संसारमें आकर ईश्वरके इस विधानकी ही अवहेलना की। निर्माता प्रभुके संदेशको ही अनसुना किया और दुःखके गर्तमें जा डूबा। सुदुर्लभ मानव-जीवन व्यर्थ ही गँवा बैठा।

पक्षिराज जटायुने सीताहरणके समय राक्षसराज-रावणके पंजेसे भगवती सीताजीको मुक्त करानेके पावन ध्येयसे, परोप-कारकी सद्भावनासे रावणसे युद्ध किया । जिस युद्धमें पक्षिराज जटायु आहत हुए, लहू-लुहान प्राणान्त स्थितिमें श्रीरामजीके चरणोंका स्मरण ही कर रहे थे कि प्रभु राघवेन्द्र स्वयं उनके समक्ष उपस्थित हुए। कृपासागर श्रीरघुवीरने अपने कर-कमलसे उनके सिरका स्पर्श किया। शोभाधाम श्रीरामजीका परम सुन्दर मुख-कमल देखकर जटायुकी सब पीड़ा न मालूम कहाँ जाती रही। पक्षिराज जटायुने रावण-युद्धका, श्रीसीताजीके रावणद्वारा हरणका समस्त वृत्तान्त श्रीरघुवीरको सुनाया और अन्तमें यही कहा—'हे कृपानिधान आपके दर्शनोंके लिये ही मैंने अपने प्राण रोक रखे थे, अब ये चलना चाहते हैं।' दयालु प्रभुने परोपकारी जटायुको जीवनदानका वचन भी दिया, जिसपर जटायुने यही उत्तर दिया—'हे नाथ! आपके नामस्मरणसे ही अधम भी मुक्त हो जाता है, ऐसा वेद गाते हैं, तब फिर मैं तो आपके साक्षात् दर्शन ही कर रहा हूँ। अब किस हेतु, किस कमीकी पूर्तिके लिये देह रखूँ।' इसपर श्रीरघुनाथजी नेत्रोंमें जल भरकर कहते हैं—'हे तात! आपने अपने श्रेष्ठ कर्मोंसे दुर्लभ गति पायी है।

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥

(मानस ३ । ३० । ५)

अखण्ड भक्तिका वर माँगकर जटायु श्रीहरिके परमधामको चले गये। प्रभु श्रीरामजीने निज हाथोंसे जटायुकी उत्तर-क्रिया की। गीध पक्षियोंमें भी अधम पक्षी माना जाता है, मांसाहारी होता है । फिर भी केवल परहितके पावन यज्ञमें उसने अपना जीवन समर्पित किया, इसी पुण्यप्रतापसे उसने दुर्लभ गति सम्पादन की। श्रीहरिके परमधामकी प्राप्ति की, जिसके लिये योगीजन भी तरसते हैं । तात्पर्य यह कि परहित जिसके जीवनकी आधारशिला है—परहित ही जिसका महान् व्रत है, उसे संसारमें कुछ

भी दुर्लभ नहीं। असम्भवको भी सम्भवमें परिणत करनेकी उसमें क्षमता होती है, सामर्थ्य विद्यमान रहती है।

कविशिरोमणि पूज्यपाद श्रीगोस्वामीजीने अपनी अलौकिक रचना श्रीरामचरितमानसमें मानव-कल्याणके रहस्यका उद्घाटन करते हुए यही अमर संदेश विश्वको सुनाया है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। परपीड़ा सम नहिं अधमाई॥
(७।४०।१/२)

आदिकविने परहितको ही श्रेष्ठ मानव-धर्म प्रतिपादित किया है और परपीड़ाको अधम-से-अधम पातक उद्घोषित कर मानवके सफल सुखी जीवनके राजपथका दिग्दर्शन किया है।

आदिकवि श्रीव्यासजीने भी अष्टादश पुराणोंमें समस्त धर्म-का निचोड़ केवल दो ही शब्दोंमें इस प्रकार व्यक्त किया है—

'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।'

हमारे समस्त शास्त्र-पुराणोंने, हमारे ऋषि-महर्षियोंने, हमारे ही नहीं, वरं समस्त विश्वके इतिहासने एक स्वरसे मुक्तकण्ठसे विश्वको 'परहित'का ही अमर संदेश—मानव-कल्याणका मधुर संगीत सुनाया है। किसी विद्वान्ने कहा भी है—'वही मनुष्य है कि जो मनुष्यके लिये मरे' अर्थात् परहितमें जो अपना सर्वस्व बलिदान करने, आत्म-बलिदान तक करनेको तत्पर रहे, वही मनुष्य मनुष्य है। वही मानव कहलाने-का अधिकारी है। जो ऐसा नहीं करते, वे मनुष्य कहलानेके अधिकारी ही नहीं।

'स्व' और 'पर' अपना और परायाके भेदकी प्रवृत्ति ही मनुष्यको धर्मसे अधर्मकी ओर, पुण्यसे पापकी ओर प्रवृत्त करती है और उसके पतनका कारण बनती है। अतएव मनुष्यका कर्तव्य है कि 'स्व' और 'पर'की संकुचित सीमाका त्याग करे और पशुतासे ऊपर उठे। 'परहित'को ही अपना जीवन-सहचर बनाये। अपना दुर्लभ मनुष्य-जीवन परहितके ही पावन यज्ञमें समर्पित करे।

ज्यों ही मनुष्य परहितका व्रत धारण करता है, त्यों ही उसके समस्त दोष—काम, क्रोध, मोह, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष—आप-ही-आप पलायन कर जाते हैं और समस्त सद्गुण, दया, धैर्य, क्षमा, सहृदयता, सौजन्यता, परदुःख-कातरता, सहानुभूति, करुणा आदि सभी आप-ही-आप अप्रयास उसके पास खिंच आते हैं। वह अजातशत्रुके पदपर प्रतिष्ठित होता है। विश्व-मैत्री, विश्वबन्धुत्व स्थापित करनेकी उसमें क्षमता एवं सामर्थ्य विद्यमान रहती है और उसका समस्त जीवन एक अहंकारयुक्त सुरक्षित पुष्पवाटिका बना बैठता है, जिसमें वह स्वच्छन्द विहार करता है और चिर शाश्वत सुखी जीवनके चरम लक्ष्य 'भगवत्प्राप्ति' की उपलब्धि करता है।

'आत्मवत् सर्वभूतेषु'—परहित-रत मनुष्यका पुण्यमय व्रत होता है। वह अन्योंके दुःख-दर्दको अपना दुःख-दर्द समझता है, अन्योंकी पीड़ासे कातर हो उठता है। उसे स्वार्थकी चिन्ता नहीं होती। उसे तो चिन्ता होती है परहित-की। उसे स्वार्थ-साधन अथवा द्रव्य-प्राप्तिका तो ध्यान ही नहीं होता। अमीरी-गरीबीका प्रश्न तो उसके मनमें उत्पन्न ही नहीं होता। निर्धन होते हुए भी वह परहित-साधन करता है, परहितकी अलौकिक पूँजी सम्पादन करता है और अप्रयास ही यथार्थ धनवान्, श्रीमान्, पूँजीपतिके रूपमें प्रतिष्ठित होता है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः'—इस तरह परहित-रत मनुष्य ही यथार्थ पण्डित होता है, विद्वान् एवं ज्ञानवान् होता है।

चन्द्र, सूर्य, तारे, वृक्ष, वनस्पति, नद-नदियाँ, मेघ आदि विश्वकी समस्त सृष्टि मनुष्यको परहितका ही मानव-कल्याणकारी मधुर संगीत सुनाते हैं। सूर्य, चन्द्र, तारे—नित्य प्रतिदिन विश्वको प्रकाश प्रदान करते हैं—परहितमें ही रत रहते हैं। बदलेमें अपने लिये कुछ भी नहीं चाहते। निष्ठा-सेवामें ही तत्पर रहते हैं। इस तरह परहितका ही अमर संदेश विश्वको सुनाते हैं।

किसी कविने इसी सत्यको इस प्रकार व्यक्त किया है—

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः
स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
नादन्ति शस्यं खलु वारिवाहाः
परोपकाराय सतां विभूतयः॥

नदियाँ आजीवन अनन्त जल-राशिका भार वहन करती हैं, भिन्न-भिन्न स्थानोंसे होकर अपने जलसे अन्योंका कल्याण करती हैं, स्वतः उस जलका पान नहीं करती हैं—कष्ट उठाती हैं और कल्याण अन्योंका करती हैं।

वृक्षोंको देखिये ? सूर्यका समस्त ताप, सारी गर्मी—सारी धूप तो अपने सिरपर लेते हैं, सारी यातना, सब कष्ट तो स्वयं सहन करते हैं और सुख पहुँचाते हैं अन्योंको। अपनी शीतल छाया प्रदान करते हैं। सुस्वादु फलोंके मधुर आहारका प्रचुर दान अन्योंको करते हैं और सुख पहुँचाते हैं। अपने मधुर फल स्वयं नहीं खाते—दूसरोंको खिलाते हैं। मेघोंको देखिये ? वे युग-युगसे जल भरकर लाते हैं और धरतीके अञ्चलको आर्द्र करते हैं। कष्ट स्वयं उठाते हैं और कल्याण करते हैं अन्योंका।

इस तरह आप देखेंगे, 'परहित'—परोपकार ही सृष्टिका भी नियम है। सृष्टिने भी 'परहित'-को ही श्रेष्ठ धर्म प्रतिपादित किया है।

हमारी प्राणप्यारी भारतीय संस्कृतिने भी 'परहित' को ही श्रेष्ठ धर्म निर्धारित किया है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के पावन सिद्धान्तपर ही हमारी गौरवशाली प्राचीन संस्कृति आधारित थी, हमारे ऋषि-महर्षियोंने भी विश्व-कल्याणकी यही कामना इन शब्दोंमें व्यक्त की है—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

अर्थात् सब सुखी हों, सब नीरोग हों, सबका कल्याण हो। किसीको भी दुःख प्राप्त न हो। हमारे देशमें, हमारी भारतीय संस्कृतिमें ऐसी पवित्र पुण्यमय भावनाओंकी भागीरथी नित्य प्रवाहित होती रही है। हमारे देशका जीवन आध्यात्मिक पवित्र जीवन रहा है। हमारे समस्त कार्य 'बहुजन-हिताय, बहुजनसुखाय' की पावन भावनासे प्रेरित होते रहे हैं। ऐसा महान् आदर्श जीवन रहा है हमारी इसी पुण्य-भूमिका, इसी भारत-भूमिका। इसी पुण्यभूमिने ऐसे-ऐसे महापुरुषोंको जन्म दिया है, जिन्होंने 'परहित' के पावन यज्ञमें ही अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया है। आत्म-बलिदानतक कर दिया। आज भी उनका यशोगान इस वसुंधरापर गूँज रहा है और 'परहित' का ही मधुर संगीत—अमर संदेश विश्वको सुना रहा है। रन्तिदेवने क्षुधासे पीड़ित द्वारस्थको देखते ही अपनी थाल उसके आगे बढ़ा दी। वृत्रासुर राक्षसका विनाश महर्षि दधीचिकी अस्थियोंसे विनिर्मित अस्त्रोंसे ही सम्भव हो सका। इन समस्त सृष्टि-नियमोंसे, ऐतिहासिक प्रमाणोंसे मथित सत्य यही प्रस्फुटित होता है कि 'परहित' ही मानव-जीवनका ईश्वरीय विधान है, जिसका सम्मान करना मनुष्यका परम कर्तव्य है।

तभी तो राष्ट्रपिता बापूने इस विज्ञान-युगमें—वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्र, एटम बमके युगमें—भी शान्तिपूर्ण 'अहिंसा' के ही अलौकिक अमोघ अस्त्रसे महान् शक्तिशाली अंग्रेजोंके पंजेसे सदियों पुरानी परतन्त्रताकी जंजीरें काटकर देशको मुक्त किया। समस्त विश्व चकाचौंध-विस्फारित नेत्रोंसे असम्भवको सम्भवमें परिणत करनेवाला विश्वके इतिहासका यह अद्वितीय चमत्कार देखकर भौंचक्का-सा रह गया। क्या देश, क्या विदेश, कोई भी, तनिक-सा विश्वास नहीं करता था कि आजके इस विज्ञान-युगमें मनुष्य निश्शस्त्र स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है। भारतमाताके इस महान् पराक्रमी लाड़ले सपूतने अपने इस चमत्कारसे विश्वको महाभारतके ऐतिहासिक संग्रामकी सत्यता सिद्ध कर दिखायी। यह भारत-भूमि चमत्कारोंकी भूमि है। इस पुण्य-भूमिपर ऐसे ही चमत्कार होते आये हैं, जो विश्वके इतिहासमें अन्यत्र नहीं हुए। महाभारतके ऐतिहासिक संग्राममें योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंका पक्ष लेकर अस्त्र-शस्त्र एवं नारायणी सेनासे सुसज्जित कौरवोंसे स्वयं निश्शस्त्र युद्ध कर पाण्डवोंको विजय प्राप्त करायी थी, जो विश्वके इतिहासका एकमात्र चमत्कार था। राष्ट्रपिता बापूने अपनी प्रखर तपस्यासे महाभारतके उसी इतिहासको सन् १९४७ ई०में विश्वमें दुहराया और समस्त विश्वको यह सिद्ध कर दिखाया कि परहितव्रतीको संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है। आप देखेंगे कि हमारे सद्ग्रन्थ 'रामचरितमानस' के रूपमें पूज्यपाद गोस्वामीजीने देशको ऐसी अलौकिक सम्पत्ति प्रदान की है, जिसका देश यदि समुचित सदुपयोग करे तो आजकी उलझनोंको, गुत्थियोंको सहज ही हल कर आजकी समस्याओंसे अपनी रक्षा कर सकता है।

इसी श्रेष्ठ मानव-धर्म 'परहित'-के ही पावन ध्येयको लेकर हमारे महान् तपस्वी अग्रगण्य धर्मप्राणनेता एवं प्राणप्यारी भारतीय संस्कृतिके अनन्य पुजारी प्रातःस्मरणीय महामना पं० मदनमोहनजी मालवीयने अपनी प्रखर तपस्यासे आशुतोष भगवान् विश्वनाथकी पावन नगरीमें सुरम्य गङ्गातटपर स्थित विशाल वैभवशाली सरस्वतीका मन्दिर 'काशी हिंदू-विश्वविद्यालय'का निर्माण किया था, जहाँ देश-विदेशके विद्यार्थी विद्या तथा ज्ञान उपार्जन कर अपना जीवन सफल, सुखमय और सार्थक बनाते हैं। काशीका हिंदू-विश्वविद्यालय उस महान् आत्माकी प्रखर तपस्याकी पुण्य-पताका है, वन्द्य मालवीयजी महाराजकी भारतको अमर भेंट है, महाराजके 'परहित'रत पुण्यमय जीवनका मूर्तिमान् प्रतीक है। सरस्वतीका यह विशाल वैभवशाली मन्दिर महाराजकी धवल परहित-निष्ठाका मधुर यशोगान मुक्तकण्ठसे समस्त विश्वको सुना रहा है।

अतएव मनुष्यका यही पावन कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने सुर-दुर्लभ मनुष्य-जीवनको परहितके पावन यज्ञमें ही समर्पित करे और इस तरह अपना मानव-जन्म सफल और सार्थक बना, जीवनके चरम लक्ष्य भगवत्प्राप्तिका सम्पादन करे। आशुतोष भगवान् शूलपाणि विश्वनाथ—देशको यही सद्बुद्धि प्रदान कर देशको प्राचीन वैभवका शिखर प्राप्त करावें—यही है दयालुसे नतमस्तक करबद्ध प्रार्थना।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

एक प्रेरक प्रसङ्ग

संवत् १९८३ की बात है। उन दिनों श्रीभाईजी बम्बईमें रहते थे। 'कल्याण'का आरम्भ हुए अभी एक वर्ष भी पूरा नहीं हुआ था। श्रीभाईजीका मन पारमार्थिक साधनाकी ओर बढ़ रहा था और बम्बईके प्रपञ्चमय जीवनसे उन्हें उपरामता होने लगी थी। भगवान्‌को उन्हें अपने काममें लगाना था। अतएव दैवप्रेरणासे जगत्‌की नश्वरताके विविध चित्र सामने आ रहे थे। श्रीभाईजीके एक मित्र थे, वे बड़े ही शौकीन थे। अपने शरीरकी सार-सँभालका वे बड़ा ध्यान रखते थे। पर दैवकी गति विचित्र है; वे अचानक बीमार हुए और उनका शरीर छूट गया। परिवार एवं स्वजनोंके हृदय चीत्कार कर उठे। सबने रोते-रोते अर्थी तैयार की और शवको श्मशानघाट ले चले। श्रीभाईजी भी उस शव-यात्रामें साथ थे। श्मशानघाटपर पहुँचनेपर चिता बनायी गयी और उसपर मित्रका शव रख दिया गया। आगका संयोग होते ही चिता धू-धू करके जल उठी और मित्रका वह शरीर, जिसे वह दिनभर सजाया करता था, जलने लगा। वे सुन्दर-सुन्दर केश फुर-फुर जलते हुए क्षणोंमें राख हो गये। श्रीभाईजी यह सब दृश्य देख रहे थे। उनके हृदयमें एक अजीब-सा कम्पन हो रहा था। जगत्‌के इस नश्वर रूपको देखकर वैराग्यकी भावना प्रखर होने लगी। वहीं श्मशानभूमिमें जलती चिताकी ओर देखते हुए वे मन-ही-मन गुनगुनाने लगे और हृदयकी भाव-तरंगोंने वाणीका रूप ले लिया। वहीं श्मशानमें एक लंबा पद बन गया, जो इस प्रकार है—

पलभर पहले जो कहता था यह धन मेरा यह घर मेरा।
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा॥
जिस चटक-मटक और फैशनपर तू है इतना भूला फिरता।
जिस पद-गौरवके रौरवमें दिन-रात शौकसे है गिरता॥
जिस तड़क-भड़क और मौज-मजेमें फुरसत नहीं तुझे मिलती।
जिस गान-तान और गप्प-सप्पमें सदा जीभ तेरी हिलती॥
इन सभी साज-सामानोंसे छुट जायेगा रिश्ता तेरा।
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा॥१॥
जिस धन-दौलतके पानेको तू आठों पहर भटकता है।
जिन भोगोंका अभाव तेरे अन्तरमें सदा खटकता है॥
जिस सबल देह सुन्दर आकृतिपर तू इतना अकड़ा जाता।
जिन विषयोंमें सुख देख रहा, पर कभी नहीं पकड़े पाता॥
इन धन-जोबन, बल-रूप—सभीसे टूटेगा नाता तेरा।
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा॥२॥
जिस तनको सुख पहुँचानेको तू ऊँचे महल बनाता है।
जिसके विलासके लिये निरन्तर चुन-चुन साज सजाता है॥
जिसको सुन्दर दिखलानेको है साबुन-तेल लगाता तू।
जिसकी रक्षाके लिये सदा है देवी-देव मनाता तू॥
वह धूलि-धूसरित हो जायेगा सोने-सा शरीर तेरा।
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा॥३॥
जिस नश्वर तनके लिये किसीसे लड़नेमें नहिं सकुचाता।
जिस तनके लिये हाथ फैलाते जरा नहीं तू शरमाता॥
जो चोर-डाकुओंके डरसे नित पहरोंके अंदर सोता।
जो छायाको भी भूत समझकर डरता है, व्याकुल होता॥
वह देह खाक हो पड़ा अकेला सूने मरघटमें तेरा।
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा॥४॥
जिन माता-पितां, पुत्र-स्वामीको अपना मान रहा है तू।
जिन मित्र-बन्धुओंको, वैभवको अपना जान रहा है तू॥
है जिनसे यह सम्बन्ध टूटना कभी नहीं तैंने जाना।
है जिनके कारण अहंकारसे नहीं बड़ा किसको माना॥
यह छूटेगा सम्बन्ध सभीसे होगा जंगलमें डेरा।
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा॥५॥
है जिनके लिये भूल बैठा उस जगदीश्वरका पावन नाम।
तू जिनके लिये छोड़ सब सुकृत पापोंका है बना गुलाम॥
रे भूले हुए जीव! यह सब कुछ पड़े यहीं रह जायेंगे।
जिनको तैंने अपना समझा वे सभी दूर हट जायेंगे॥
हो जा सचेत! अब व्यर्थ गवाँ मत, जीवन यह अमूल्य तेरा।
प्राणोंके तनसे जाते ही उसको लाकर बाहर गेरा॥६॥

—जगत्‌में स्वजनों-मित्रोंकी मृत्युके प्रसङ्ग बराबर आते हैं, पर हमलोग सब-कुछ देखते हुए भी नहीं बदलते। किंतु श्रीभाईजीके पवित्र हृदयने उस घटनासे जो प्रेरणा ली, वह उनके जीवनमें स्थायी हो गयी। कुछ ही दिनों बाद वे अपना सब कारोबार समेटकर गोरखपुर चले आये और जगत्‌में रहकर भी वे जगत्‌में नहीं रहे तथा शेष जीवन'कल्याण' एवं गीताप्रेसकी सेवामें—भगवान्‌की सेवामें होम दिया। वास्तवमें 'कल्याण' एवं भाईजी पर्याय हो गये थे।

—कृष्णचन्द्र अग्रवाल

(२)

श्रमके आनन्दका मूल्य

आजसे पचास वर्ष पूर्वकी घटना है। उस समय सौराष्ट्र प्रदेश अनेक राज्योंमें और छोटे-छोटे जागीरदारोंकी जागीरोंमें विभक्त था। जामनगर राज्यमें एक राज-कुटुम्बके जागीरदार थे जवानसिंहजी। छः गाँवोंकी जागीर थी और जवानसिंहजी इसी छोटी जागीरसे अपने कुटुम्बका निर्वाह करते थे। जागीर छोटी थी, मगर वे हृदयके उदार और शौकीन भी थे।

जवानसिंहजी एक घोड़ेकी बग्गीको स्वयं चलाते थे। उस समय मोटरोंकी इतनी भरमार न थी और न उनका उतना महत्त्व ही था।

एक दिनकी बात है, एकादशीका दिन था। अपनी बग्गी लेकर जवानसिंहजी अपने एक गाँवमें गये हुए थे। लौटते समय मार्गमें ही बग्गीका एक पहिया टूट गया। बड़े प्रयत्नसे वे नजदीकके गाँवमें बग्गीको ले जा सके। वह गाँव अपनी जागीरका नहीं था। वे एक बढ़ईके वहाँ पहुँचे और उसे बग्गीका पहिया मरम्मत करनेको कहा। बढ़ई बोला—'आज एकादशीका दिन है, काम भी बंद है और भट्ठीकी धौंकनी चलानेवाला नौकर भी छुट्टी लेकर अपने घरको गया हुआ है। अगर एक भी नौकर हाजिर होता तो मैं आपका काम अवश्य कर देता। यदि आप कुछ सहायता कर दें तो काम हो सकता है। अपने काममें सहयोग देनेमें शर्म क्या है?' बढ़ईकी बात जवानसिंहको लग गयी। 'तुम फिक्र मत करो', जवानसिंहजी बोले। 'मैं स्वयं भट्ठीकी धौंकनी चला लूँगा, तुम मेरा काम कर दो, मुझे अभी दूर जाना है।'

'अच्छी बात है।' कहकर बढ़ईने अपना काम शुरू किया। धौंकनी चलानेका काम स्वयं जवानसिंहजी करने लगे। थोड़ी देरमें पहिया तैयार हो गया।

जवानसिंहजी स्वयं जागीरदार और आरामप्रिय थे, किसी प्रकारकी मेहनत करनेके आदी नहीं थे। फिर इतना परिश्रम तो उन्होंने जिंदगीमें कभी किया ही नहीं था। पसीनेसे लथपथ हुए उन्होंने बढ़ईसे पूछा—'कितनी मजदूरी देनी होगी, तुम्हें?'

'सिर्फ ६ कौरी।' बढ़ई बोला—'आप पाँच कौरी देंगे, तो भी चला लूँगा।'

कौरी उस समयकी जामनगर स्टेटका चाँदीका सिक्का था, उसकी कीमत चार आनेके बराबर थी।

रूमालसे पसीना पोंछते हुए जवानसिंहजीने जेबमें हाथ डालकर सोनेके छः सिक्के निकाले और वे बोले—'ये ले लो।'

सोनेकी छः गिन्नियाँ देखकर बढ़ईको बड़ा आश्चर्य हुआ और वह आगन्तुक ग्राहकके सामने आँखें फाड़कर देखने लगा—'मेरी मजदूरीकी छः कौरी होती है, आपने भूलसे मुझे...'

'नहीं मेरे मित्र!' जवानसिंहजी बोले, 'मैंने तुम्हें जो दिया है, समझकर ही दिया है। छः कौरी तो तुम्हारी मजदूरी होती है, और शेष रकम तुमने मुझे परिश्रम सिखाया, उसकी गुरुदक्षिणा है। मैंने आजतक श्रमका आनन्द नहीं पहचाना; आज मुझे जो आनन्द मिला, उसकी यह तुच्छ भेंट है।'—यह कहते हुए जवानसिंहजी बग्गीमें बैठकर चल पड़े।

'मंगलमन्दिर' —पं० मंगलजी शास्त्री

(३)

गरीब बुढ़ियाकी ईमानदारी

बगहाके पास ग्राम चखनीके ईसाई पादरीने बेतिया बैंकसे २८हजार रुपयेका भुगतान लिया और मोटर-साइकिलसे लौरिया पिरोड होकर जा रहे थे। वे शनीचरी चौकसे कुछ ही आगे बढ़े होंगे कि उनका रुपयोंका पर्स सड़कपर गिर गया, जिसका उन्हें पता ही न चला। बहुअरआ गाँवकी एक वृद्ध चमारिनने सड़कपर उसे देखा और चुपचाप उठाकर उसे अपने घर ले आयी।

घर आकर उसने बेग खोला तो उसमें नोट-ही-नोट भरे थे। उस बुढ़ियाके आगे-पीछे कोई न था, केवल वारिसके तौरपर एक नाती था। वह तो इधर-उधर मेहनत-मजदूरी करके अपना गुजर करती थी। उस बेगमें भरे नोटोंको देखकर उसकी आँखें खुली रह गयीं। उसने पहली बार इतने नोट देखे थे, फिर हाथमें लेने और बक्समें रखनेका तो बेचारीको कभी अवसर मिल भी कैसे सकता था। इतने नोट उसकी जिंदगीको काफी थे, बची हुई धनराशिसे उसके नातीका काम चल सकता था।

वृद्धाको सड़कपर जब नोटोंसे भरा पर्स मिला था, उससे कुछ क्षण पूर्व ही उसने पादरी साहबको जाते हुए देखा था। उसके बाद सड़कपर निकलते उसने किसीको भी नहीं देखा; अतः उसके मनमें विश्वास हो गया था कि ये नोट उसी पादरीके होंगे। अतः वह अपने घरसे चलकर उसी स्थानपर आकर बैठ गयी कि जब पादरीको अपने

बेगके गिर जानेका ध्यान आयेगा, तब वह वैसे ही लौटकर आयेगा और तभी वह अपनी बात उसे कह देगी। वह वृद्धा जबतक सड़कपर आयी, तबतक पादरी साहब बेतियाकी ओर चले गये और वहाँ जाकर उन्होंने थानेमें रिपोर्ट लिखवायी और लोरिया थानेमें भी फोनद्वारा सूचना भिजवा दी।

पादरी बड़े उदास होकर घरकी ओर लौट रहे थे; क्योंकि जिस मार्गसे वे पहले गये थे, उस मार्गको दूसरी बार उन्होंने देख ही लिया था। उधरसे पादरी साहबको गुजरते देख, उस वृद्धाने उन्हें हाथ देकर रोका और रुपये मिलनेकी सारी बात कही। अंधेको चाहिये दो आँखें। पादरीकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा। वह वृद्धाके साथ उसके घरपर गये और नोटोंका बेग मिल जानेसे उनका चेहरा खिल उठा। इतने रुपये तो वे अपनी सारी सम्पत्ति बेचकर भी न दे पाते। वे तुरंत ही तीन हजार रुपये निकालकर उस वृद्धाके हाथपर रखने लगे। पर वृद्धाका सीधा-सादा उत्तर था—'बेटा! ये रुपये तो तुम्हारे हैं; इनपर मेरा क्या अधिकार है। यह तो मेरा कर्तव्य था कि सड़कपर मिली हुई चीज उसके मालिकके हवाले कर दूँ। यदि तुम न मिलते तो मुझे ये नोट थानेमें जमा करवाने पड़ते। मेरी इतनी उम्र हो गयी, मुफ्तका एक भी पैसा आजतक मैंने नहीं लिया। मेरा पेट भरनेको तो मेरे हाथ-पैर अभी चलते हैं।'

पादरीके बहुत कहनेपर भी बुढ़ियाने नोट स्वीकार नहीं किये। आखिर उसे कहना पड़ा—'माँ! तुम्हारी कृपाको मैं जीवनभर नहीं भूल सकूँगा। आज मुझे पता चला कि इस दुनियामें ईमानदार व्यक्तियोंकी कमी नहीं है।'

'युग-निर्माण-योजना'

(४)

आदर्श मैत्री

थोड़े दिन पहले मेरे एक मित्र मेरे यहाँ आये और प्रसन्नता व्यक्त करते हुए बोले—'इस बेकारीके जमानेमें मुझे नौकरी मिल गयी है; चार-पाँच दिनमें लिखित आर्डर भी मिल जायगा।'

मित्रकी बात सुनकर हमलोग खुश हुए और उस आनन्दमें मिठाई बाँटी गयी। उसके बाद पंद्रह दिन बीत गये। एक दिन वे मित्र पुनः मेरे घरपर आये और अपनी नौकरीके लिये मुझसे एक प्रार्थनापत्र टाइप कर देनेको कहा। पहले जो नौकरी उन्हें मिलनेवाली थी, वह उन्हें नहीं मिली थी, इसका हमें आश्चर्य हुआ।

हमलोगोंने नौकरी न मिलनेका कारण पूछा, तब उन्होंने स्वाभाविक रूपसे उत्तर देते हुए कहा—'मैंने प्रयत्न किया, सब कुछ निश्चय भी हो गया; किंतु मेरे भाग्यमें वह नौकरी थी नहीं, इसलिये नहीं मिली।' यह कहकर उन्होंने बात टाल दी।

थोड़े दिन बाद मुझे उस कार्यालयमें जाना पड़ा, जहाँ मेरे मित्रको नौकरी मिलनेवाली थी। मेरे कागजात जिस क्लर्कके पास थे, वही क्लर्क मेरे मित्रके स्थानपर नियुक्त हुआ था। मैंने सहजभावसे ही उस क्लर्कसे पूछा—'आपकी जगहपर मेरे एक मित्र मि० देसाई आनेवाले थे, किंतु दुर्भाग्यवश उन्हें यह स्थान नहीं मिल सका।' देसाईका नाम सुनकर उस भाईके कान खड़े हो गये। उसने कहा—'क्या मिस्टर देसाई आपके मित्र हैं? वे तो मेरे भी मित्र हैं। मैनेजरके साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध भी है, अतः नौकरी उनको ही मिलनेवाली थी, परंतु खुदानशीबीके कारण यह नौकरी उन्हें न मिलकर मुझे मिल गयी। मि० देसाई जब कालेजमें पढ़ रहे थे, उन दिनों उनके ऊपर मेरे कुटुम्बने काफी उपकार किये थे, किंतु आज मेरे कुटुम्बकी स्थिति बहुत बिगड़ गयी है। समस्त कुटुम्बके भरण-पोषणका भार मेरे ही ऊपर आ पड़ा। मैंने मि० देसाईसे भी कहीं नौकरीपर मुझे लगा देनेकी विनती की थी, परंतु मि० देसाई मेरे लिये कुछ कर न सके। मनुष्य अपने ऊपर किये हुए उपकारोंको कैसे भूल जाते हैं। परंतु भगवान् तो सबके हैं। मेरे भाग्यने जोर किया और यह नौकरी…'

वे भाई अभी अपनी बात पूरी भी न कर पाये थे कि उनके पीछे खड़े हुए उनकी बात सुन रहे आफिसके मैनेजर स्वयं सम्मुख आ खड़े हुए। उनके सम्मानमें हम सब खड़े हो गये। वे हँसते हुए उस क्लर्कसे कहने लगे—

"मैं आफिसका 'राउण्ड' लगानेके लिये निकला था, यहाँ आते हुए मुझे तुम्हारी बात सुननेका मौका मिला। तुम्हें जो नौकरी मिली है, इसमें तुम्हारे भाग्यका हाथ नहीं है। यह नौकरी मि० देसाईकी सिफारिशसे ही मिली है। तुम्हारे कुटुम्बकी परिस्थितिसे मि० देसाई मुझे अवगत कराकर, तुम्हें ही यह नौकरी मिल सके, इसलिये वे अपनी उम्मीदवारीसे हट गये हैं। आश्चर्यकी बात तो यह है कि इस रहस्यको उसने तुमसे भी गुप्त रखा है।"

मैनेजर एक साँसमें ही इतना कहकर आगे बढ़ गये।

(अखण्ड आनन्द)

—गोकुलचंद दुआ

(५)

धरोहर

'आइये, सेठजी !'—गजानन सेठ कोठीकी सीढ़ीपर चढ़ रहे थे कि सखाराम सेठने उनका स्वागत करते हुए कहा—'आप उदास क्यों लगते हैं ? जैसे किसी उतावलीसे आ रहे हैं ?'

'बात यह है, सेठजी !' गद्दीपर बैठते हुए गजानन सेठ बोले—'सुना है कि मेरे जन्मस्थानपर दंगा हुआ है; अतः मैं आज ही अपने जन्मस्थानको जा रहा हूँ। खर्चके लिये थोड़े-से रुपये ले जाऊँगा, शेष रुपये आप जमा रहने दीजिये; आवश्यकता पड़नेपर मैं मँगा लूँगा।'

बहीखातेको खोलकर सखाराम सेठने देखा तो दो हजारका माल जमा था। अपने लाभांशको काटकर सखाराम सेठने गजानन सेठके नामपर ५०८०) रुपये जमा कर रखे थे। गजानन सेठ महाराष्ट्रके चिपलूण गाँवमें छोटा-सा व्यापार कर रहे थे। मालकी मूल कीमत दो हजारकी होनेपर भी बाजार ऊँचा होनेके कारण इतनी रकम उन्हींके नामपर जमा की गयी थी।

फुटकर ८०) रुपये लेकर बाकीके ५ हजार रुपये सखाराम सेठके यहाँ जमा करवाकर गजानन सेठ अपने गाँव जानेको रवाना हुए। देहातके जंगलमें उन्हें अकस्मात् लुटेरे मिल गये और वे लोग सेठको लाठियोंकी चोटसे बेहोश करके रुपये लेकर भाग गये। मूर्च्छासे जागनेपर उन्होंने देखा कि नजदीकके गाँववाले लोग उनकी सेवा-शुश्रूषा कर रहे हैं। सतारा शहर और अपने गाँवके बीचमें एक अनजाने गाँवमें दो-तीन दिन बाद वे चल बसे। सेठकी यहाँ कोई जान-पहचान न होनेके कारण इस बातकी खबर किसीको न मिल सकी।

सतारामें रहनेवाले उनके परिवारके लोग भी गजानन सेठका कोई समाचार न पा सके। बहुत दिनोंतक समाचार न मिलनेके कारण और पत्र देनेपर उसका कोई उत्तर न मिलनेसे सखाराम सेठने उनके पाँच हजार रुपये अपने व्यापारमें लगा दिये। गजानन सेठकी खोज करनेके लिये उन्होंने अपने एक आदमीको देहातमें भेजा।

चार-छः दिन बाद लौटकर उस आदमीने कहा—'बहुत अच्छी खबर लेकर आया हूँ, सेठजी ! लुटेरोंके हाथोंसे गजाननका देहान्त हो गया है और उनके घरमें उनकी विधवा पत्नी और एक बारह वर्षका पुत्र ही मौजूद है। उन्हें इन रुपयोंका कोई पता नहीं है। गजाननकी मृत्युका पता भी उन्हें एकाध मासके बाद ही मिल सका है। रुपयोंका अब कोई साक्षी नहीं है।'

'राम ! राम !! राम !!!' सखाराम सेठने उस मुनीमका कान पकड़कर कहा—'शंकर, यह तू क्या बोल रहा है ? तेरी बुद्धिपर पत्थर क्यों पड़ गया ? गजाननके घरके लोग पैसे-पैसेके मोहताज बने रहें और मैं इस अन्यायके धनको हड़प लूँ—ऐसी बात फिर कभी मत कहना।'

थोड़े ही समय बाद सखाराम सेठने गजाननकी पत्नी और पुत्रको अपने घरपर बुलाया तथा अपने व्यापारमें लगाये हुए रुपये ब्याजसहित गिनकर उनके सुपुर्द कर दिये। साथ ही उन्हें उनके गाँव पहुँचानेकी व्यवस्था कर दी।

सखाराम सेठके इस सच्चे व्यवहारकी बात सताराके राजा शाहू महाराजने सुनी। उन्होंने सखाराम सेठको अपने दरबारमें बुलाकर बहुमूल्य पोशाक देकर उनका सम्मान किया। राजा साहेबने कहा—'सखाराम सेठजी ! आप-जैसे सच्चे एवं ईमानदार नागरिकोंकी उपस्थितिसे मैं और मेरा राज्य—गौरवका अनुभव करते हैं।' (सुविचार)

—नटवरलाल पंचाल

(६)

वैसे तो मुझसे कुछ नहीं दिया जाता

एक बार मैं अपने मित्रके गाँव गया था। गाँव छोटा था, पर था बहुत सुन्दर। गाँवके नजदीक कलकल करती हुई नदी बह रही थी तथा किनारेपर सघन वट-वृक्ष थे।

मित्रकी बहिनकी शादी होनेवाली थी। अतः धनकी कमीके कारण पचासेक मन गेहूँ बेचना था। गेहूँ देखनेके लिये गाँवके सेठजी आये। मेरे मित्रके पिताने गेहूँका नमूना दिखलाते हुए कहा—'देखिये, सेठजी ! हैं न अच्छे गेहूँ ? लेशमात्र भी कंकड़-कचरा नहीं है इनमें।'

सेठजीने गेहूँको हाथमें लेकर इधर-उधर फिराया और बोले—'सत्रह रुपये पचास पैसे मनके मिल सकेंगे।' मित्रके पिताने अधिकके लिये आग्रह किया। सेठजी बोले—'पौने अठारह रुपया दूँगा, अब बोलना मत। शामको आकर गेहूँ तौल लेंगे।'

मेरे मित्रके पिताजी आवश्यक कामसे घरसे बाहर चले गये। गाँवके व्यवहारसे मेरे मित्रने सेठजीको चाय पीनेके

लिये रोक लिया। चाय पीते-पीते मेरे मित्रने कहा—'देखिये, सेठजी! मैं आपसे कपट नहीं करना चाहता। मेरे पिताजीने जो गेहूँ दिखाये हैं, वे तो साफ किये हुए गेहूँ थे। आपको देनेके गेहूँ इतने अच्छे नहीं हैं। मेरी बहिनकी शादीके कारण गेहूँ बेचने पड़ते हैं। हमारे यहाँ खाने-पीने और बोनेके लिये भी पर्याप्त गेहूँ नहीं हैं। परेशानीके कारण बेचना पड़ रहा है; क्योंकि हमलोग शादीकी लेन-देनमें रुपये नहीं लेते। गेहूँका अच्छा भाव मिले तो बहिनकी शादी भलीभाँति हो सके, इसी कारण पिताजीने अच्छे गेहूँ बतलाये हैं। इस प्रकार कपट करनेमें उनके जीमें कम दुःख नहीं हुआ होगा। मैंने आपको सच-सच बता दिया। अब आप अपनी इच्छाके अनुसार करें।'

मित्रकी बात सुनकर सेठजी तो उसके मुँहकी ओर देखने लगे और थोड़ी देर बाद बिना एक भी शब्द बोले वे उठ खड़े हुए। हमलोगोंने थोड़ी दूर साथ चलकर उन्हें बिदा दी। लौटकर मैंने मित्रसे कहा—'तुमने ठीक ही कह दिया। चाहे जैसी परिस्थिति हो, क्या खानदानका आदर्श कभी बदल सकता है।' वह बोला—'भाई, बुरा माल देकर अच्छे मालके पैसे हम कैसे ले सकते हैं।'

हमलोग सोच रहे थे कि 'अब सेठजी गेहूँ तौलनेको आयेंगे नहीं। हमें कहीं दूसरी जगहसे पैसेकी व्यवस्था करनी होगी।' किंतु हमलोगोंके आश्चर्यका ठिकाना न रहा जब शामके समय सेठजी आ खड़े हुए और मेरे मित्रके पिताजीसे कहने लगे—'भाई, गेहूँ बहुत अच्छे हैं, मुझे पसंद हैं—दाम भी मैं पूरे अठारह रुपयेके भावसे दूँगा।' यह सुनकर अन्य किसीको तो आश्चर्य नहीं हुआ, मुझे और मेरे मित्रको बड़ा ही आश्चर्य हुआ। सेठजीकी बात हमलोगोंकी समझमें नहीं आ रही थी। प्रातःकाल बहुत कहने-सुननेपर उन्होंने प्रति मन चार आने बढ़ाये थे और अब 'गेहूँ खराब है', यह जाननेपर भी पूरे अठारह रुपये क्यों दे रहे हैं?

गेहूँका तौल हो गया। सेठजी घर जाने लगे। जाते समय सेठजीने मेरे मित्रसे कहा—'भाई, तुम्हारी बहिन-लड़की मेरी भी बहिन-लड़की है। वैसे तो मुझसे कुछ नहीं दिया जाता, इस तरहसे जो भी बन सके, सहायता कर रहा हूँ। तुम-जैसे खानदानी भले व्यक्ति दुनियामें बहुत कम देखनेमें आते हैं।'

—सेठजीकी उदारता और उनकी भलाई करनेकी पद्धतिको देखकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। मैंने मनसे उनकी वन्दना की।

'अखण्ड आनन्द' —जेसंगकुमार बरजिया

(७)

ट्रक-ड्राइवरकी परदुःखकातरता

गाड़ी छूट चुकी थी और दूसरे ही दिन मुझे बीकानेरमें उपस्थित होना था। जयपुरसे बीकानेर २३४ मील है। स्कूटरपर जानेके सिवा और कोई साधन नहीं था कि जिससे समयपर वहाँ पहुँच सकूँ। अतः यही उचित समझा और घरसे स्कूटर निकाल लिया। अकेले जाना ठीक नहीं था, इसलिये साथमें नौकरको भी ले लिया।

रात्रिके आठ बज चुके थे। आसमान साफ था। नौकरने मदनलालके साथ यात्राका श्रीगणेश कर दिया। अभी २६वाँ मील ही आया था कि अचानक बादल घिर गये और पानी बरसना शुरू हो गया। वहाँ आस-पास ठहरनेकी कोई जगह नहीं थी, कोई गाँव नहीं था, कहीं छाया नहीं थी; अतः सड़कके किनारेके एक पेड़के नीचे आश्रय लिया। वहाँसे तीन मील आगे गोविन्दगढ़के नीचे एक बरसाती नदी बहती है। इसमें पानी भरनेका भी डर होने लगा। नदीपर कोई पुल नहीं था—नदीमेंसे होकर ही ट्रकें-बसें गुजरती थीं।

पानी बराबर बरस रहा था। कपड़े सब भीग गये थे। हवा चलनेसे कुछ ठंड भी लगने लगी थी। नौकर तो बेचारा वैसे ही दुबला-पतला था, अतः उसकी हालत तो कही ही क्या जाय। सोचा, किसी ट्रकसे इसे आगे भेज दूँ। मेरे पास जो स्कूटर था, उसे तो ट्रक-चालक ट्रकपर रखने क्यों लगे?

कई ट्रकें निकलीं। हाथ उठाकर रोकनेका प्रयत्न किया, पर किसीने ध्यान नहीं दिया। सभीको नदीमें पानी भरनेका खतरा था। तभी देखा, एक ट्रकवाला अपनी गाड़ी पीछे लौटा रहा है। गाड़ी लेकर वह हमारे पास आ गया। कहने लगा—'आप भीग क्यों रहे हैं? मेरी गाड़ीमें बैठ जाइये। मैं सीकरतक जा रहा हूँ। आप कहाँतक जायेंगे? सीकरतक मैं आपको पहुँचा दूँगा। पानी रुकनेकी प्रतीक्षा मत कीजिये; आगे नदीमें पानी भर जायगा तो फिर रात आपको इधर ही बितानी पड़ेगी।

हमारे लिये यह अप्रत्याशित घटना थी। हमने उसे बतलाया कि 'हमारे साथ स्कूटर है, तुम इसे अपनी गाड़ीमें ले चल सकोगे ?'

उसने बिना कोई जवाब दिये गाड़ीका पिछला ढक्कन खोल दिया। भीतरसे लकड़ीके दो पाटिये निकाले और गाड़ीसे लगाकर स्कूटर उसपर चढ़ा दिया। हम दोनों गाड़ीमें बैठ गये। नदीमें अभी पानी आना शुरू ही हुआ था। दो घंटेमें हम सीकर पहुँच गये।

सीकर पहुँचकर हमने डरते-डरते १५ रुपये निकाले और उसे देने लगे। हमें आश्चर्य हुआ—उसने रुपये लेनेसे इन्कार कर दिया। उसने कहा—'मैं तो खाली गाड़ी ला रहा था; मेरा इसमें क्या खर्च हुआ। मुझे तो गाड़ी लानी ही थी। आप वहाँ रहते तो बीमार पड़ जाते; इसलिये मैंने आपको गाड़ीमें बैठा लिया। मैं भी पानीमें भीगकर तीन महीनेकी बीमारी भोग चुका हूँ। मुझे इसका अनुभव है।'

अपनी बात पूरी कर उसने गाड़ी रवाना की और चला गया।

मैं नतमस्तक विचार करता रहा—'आज भी ऐसे परदुःखकातर ड्राइवर हैं। ड्राइवरोंकी बदमाशीकी बातें तो बहुत सुनी हैं, परंतु उनकी दयालुताका यह उदाहरण मेरे मनमें एक सद्भावनाका बीज बो गया।

—कुँअर रतनसिंह रिवड़िया

(८)

मेहनतकी रोटी

बात पुरानी है। मेरे एक मित्र सूरत होकर धोलका आ रहे थे। गांधीग्रामसे धोलका जानेवाले रेलवे-मार्गपर मेरिया नामक स्टेशन है। सर्दीके दिन थे। रात हो गयी थी। इस स्टेशनपर यात्री चाय पी सकें, इसलिये गाड़ी काफी समयतक यहाँ ठहरी रहती है। जैसे ही गाड़ी स्टेशनपर रुकी, चाय और मूँगफली बेचनेवालोंकी आवाज आने लगी। अचानक इन लोगोंकी आवाजमें एक वृद्धाकी आवाज भी सुनायी दी—'गठरी उठवानी है किसीको ? किसीको मजदूर चाहिये ?' यह अनोखी आवाज और वह भी एक वृद्धाके मुँहसे ! भारी आश्चर्य। मेरा मित्र डिब्बेसे नीचे उतरा। उसने देखा—एक वृद्धाके हाथमें लकड़ी है और नौ-दस वर्षका एक बालक वृद्धाको पकड़े हुए है। वृद्धा लगभग पचहत्तर वर्षकी होगी। वह दोनों आँखोंसे अंधी है। उसके पहनावेसे मालूम पड़ता था कि वह मध्यम श्रेणीकी है। मेरे मित्रको वृद्धाकी आवाज सुनकर शङ्का हुई, इसलिये उसने वृद्धासे पूछा—'माँजी ! क्या बेचती हो ?'

'बेचती तो कुछ नहीं हूँ, भाई ! मैं तो अगर किसीकी गठरी-पोटली उठाकर ले जानी हो तो मजदूरीके लिये आवाज लगा रही हूँ।' वृद्धाने कहा।

'लेकिन इस उमरमें ! आँखोंसे दिखायी नहीं देता, फिर मजदूरीका काम क्यों कर रही हो ! क्या कोई आगे-पीछे नहीं है ?'—मित्रने उसकी पारिवारिक स्थिति जाननेके लिये प्रश्नोंकी झड़ी लगा दी।

'भैया ! भगवान्‌के दिये हुए दो लड़के और उन लड़कोंके भी दो लड़के हैं। देखो, यह लकड़ी पकड़कर चलनेवाला बालक मेरे बड़े लड़केका बड़ा लड़का है। लड़कियाँ भी दो हैं। हमारा घर सुखी है।' वृद्धा कह रही थी। किंतु मित्रने अधीर होकर उसकी बात काटते हुए पूछा—'माँजी ! इतनी सुखी हो तो फिर मजदूरी क्यों कर रही हो ?'

'भैया ! इसका जवाब मैं देती हूँ। लड़के और बहुएँ तो बहुत मना करती हैं, लेकिन बेकार बैठा नहीं जाता। जबतक हाथ-पाँव चलते हैं, तबतक अपनी ही मेहनतसे कमायी हुई रोटी खानी चाहिये।'

'लेकिन माँजी ! आँखोंसे दीखता नहीं है—तब ?'

'भैया ! मेरी आँखें नहीं देखतीं हैं तो क्या हुआ; हाथ-पाँव तो चलते हैं। और फिर मेरी आँखें तो देख यह है।' कहकर वृद्धाने अपना हाथ उठाकर अपने नातीके सिरपर रखा। गाड़ीने सीटी दे दी। मेरा मित्र दौड़कर गाड़ीमें बैठ गया, पर उसका मन तथा आँखें उस वृद्धाकी ओर लगे थे। गाड़ी चली जा रही थी, पर मित्र सिरपर पोटली रखकर जाती हुई उस वृद्धाको बराबर देखता रहा।

'अखण्ड आनन्द' —दीनानाथ जे० मेहता

भूल-सुधार

'कल्याण' के गत दसवें अङ्कके पृष्ठ १२३५ पर बायें कालमके दूसरे अनुच्छेदकी तीसरी पंक्तिमें सन् १८८४ के स्थानपर भूलसे १२२४ छप गया है। पाठकगण कृपया सुधार लें। —सम्पादक

‘कल्याण’-प्रेमियोंसे प्रार्थना

(१) यह ‘कल्याण’के ४५वें वर्षका ११वाँ अङ्क है । एक अङ्क और प्रकाशित होनेके बाद यह वर्ष पूरा हो जायगा । ४६वें वर्षका प्रथम अङ्क ‘श्रीरामाङ्क’ विशेषाङ्क होगा। इसमें भगवान् श्रीरामसे सम्बन्धित सभी महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक विषयोंपर प्रामाणिक सामग्री रहेगी । भगवान् श्रीराम एवं भगवती सीताके स्वरूपतत्त्व, नामतत्त्व, लीलातत्त्व और धामतत्त्व आदिपर विचारपूर्ण लेख रहेंगे । भगवान् श्रीरामके आदर्श गुण, मन्त्र-स्तोत्र, उनकी उपासना आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली रोचक सामग्री भी रहेगी । भगवान्‌के ध्यान एवं विविध लीलाओंके सुन्दर रंगीन चित्र भी रहेंगे । इन सब दृष्टियोंसे यह अङ्क बहुत ही उपादेय तथा शिक्षाप्रद होगा, ऐसी आशा है ।

(२) इस वर्ष भी ‘कल्याण’में बहुत बड़ा घाटा है एवं सभी तरहके खर्च भी उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं । फिर भी ‘कल्याण’के विशेषाङ्कका मूल्य १०.०० रुपये ही रखा गया है । आप १०.०० मनीआर्डरसे भेजकर तुरंत ग्राहक बन जाइये । इस अङ्ककी माँग विशेष होनेकी सम्भावना है । रुपये भेजते समय अपने मनीआर्डर-कूपनमें अपनी ग्राहक-संख्या अवश्य लिखें । नाम, पता, मोहल्ला, डाकघर, जिला, प्रदेश आदि साफ अक्षरोंमें लिखनेकी कृपा करें । नये ग्राहक हों तो कूपनमें ‘नया ग्राहक’ अवश्य लिखें ।

(३) ग्राहक-संख्या न लिखनेसे आपका शुभ नाम नये ग्राहकोंमें लिखा जा सकता है । इससे विशेषाङ्ककी एक प्रति नये नंबरोंसे तथा एक प्रति पुराने नंबरोंसे वी० पी० द्वारा भेजी जा सकती है । यह भी सम्भव है कि आप उधरसे रुपये कुछ देरसे भेजें और पहले ही यहाँसे आपके नाम वी० पी० चली जाय । दोनों ही स्थितियोंमें आप कृपापूर्वक वी०पी० वापस न करके नये ग्राहक बना दें और उनका नाम-पता साफ-साफ लिखनेकी कृपा करें ।

(४) सभी ग्राहक महानुभावोंसे तथा ग्राहिका देवियोंसे निवेदन है कि वे प्रयत्न करके ‘कल्याण’के दो-दो नये ग्राहक बनाकर उनके रुपये मनीआर्डरद्वारा शीघ्र भिजवानेकी कृपा करें । इससे उनके ‘कल्याण’के प्रचार-प्रसारमें बड़ी सहायता मिलेगी और वे महान् पुण्यके भागी होंगे ।

(५) किसी कारणवश ‘कल्याण’ बंद हो जाय तो केवल ‘विशेषाङ्क’ और उसके बाद जितने अङ्क पहुँच जायँ, उन्हींमें संतोष करना चाहिये; क्योंकि अकेले विशेषाङ्कका मूल्य ही १०.०० रु० (दस रुपये) है ।

(६) अगले वर्ष भी सजिल्द अङ्क देनेमें कठिनता है और उसके बहुत विलम्बसे दिये जानेकी सम्भावना है । यों सजिल्दका मूल्य ११.५० (ग्यारह रुपये पचास पैसे) है ।

(७) श्रीरामाङ्कके लिये लेख बहुत आ गये हैं । अतएव लेखक महानुभाव कृपया इसके लिये अब लेख न भेजें ।

व्यवस्थापक—‘कल्याण’, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

संकटके समय हमारा कर्तव्य

विश्वमें आसुरी सम्पत्तिका बड़े जोरसे विस्तार हो रहा है। दिन-प्रतिदिन सभी जगह, सभी क्षेत्रोंमें अशान्ति बढ़ रही है। हमारी पवित्र भूमि भारतमें भी उसी तरह संकट एवं विपत्तियाँ बढ़ रही हैं। हमारे देशकी सीमाओंपर युद्धका भीषण खतरा बना है। पड़ोसी बंगलादेशमें महीनोंसे बड़ा विप्लव एवं नर-संहार हो रहा है। सभी प्रान्तोंमें, नगरोंमें, गाँवोंमें, समाजमें, परिवारमें अशान्ति छा रही है। तरह-तरहकी नयी-नयी विपत्तियाँ आ रही हैं और भविष्यमें भी उनके आनेकी सम्भावना बढ़ी है। आसुरी सम्पत्तिका विस्तार रोकने, संकट और विपत्तियोंको दूर करने एवं चिरशान्तिके लिये प्रत्येक देशवासीको भगवत्-आराधनमें यथाशीघ्र बड़े जोरसे लग जाना चाहिये। सभी लोगोंको सामूहिकरूपसे या अलग-अलग अपने-अपने सुविधानुसार भगवत्-प्रार्थना, देवाराधन, यज्ञ, सामूहिक कीर्तन, दुर्गाकी उपासना, रामायण, रामरक्षास्तोत्रके अनुष्ठान एवं भगवान् शंकर तथा भगवान् नारायणकी आराधनाके आयोजन सर्वत्र शीघ्र-से-शीघ्र शुरू करने चाहिये। पूरे विश्वासके साथ इस कार्यमें सभीको नियमितरूपसे समय निकालकर लग जाना चाहिये। इससे निश्चित ही बड़ा लाभ होगा—ऐसा हमारा विश्वास है।

—चिम्मनलाल गोस्वामी,
सम्पादक 'कल्याण'